

सहजानंद शास्त्रमाला

# पंचाध्यायी प्रवचन

## भाग 9

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

## पञ्चाध्यायी प्रवचन नवम भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थं पूज्य श्री १०८ धुल्लक  
मनोहर जी वर्गी "सहजानन्द" महाराज

सिद्धं विशेषवद्वस्तु सत्सामान्यं स्वतो यथा ।

नासिद्धो धातुसंज्ञोपि कश्चित् पीतः सितोऽपरः ॥१॥

वस्तुकी सामान्यात्मकताकी तरह विशेषात्मकताकी भी सिद्धता—पूर्व अध्यायमें वस्तु सामान्यकी व्यवस्था बतायी गई थी । वस्तुमात्र, सन्मात्र । किस प्रकारके लक्षणसे है और उसका किस तरहसे विवेचन होता है ? यह सब वर्णन किया गया था । तो मूलमें यह ही सिद्ध किया गया था कि वस्तुका सामान्य धर्म स्वतः सिद्ध है, जिसको ऋचीं गाथामें तत्त्वका स्वरूप कहा गया था कि तत्त्व तो सन् अथवा वस्तु सत्ता लक्षण वाला है अथवा सन्मात्र है क्योंकि वह स्वतः सिद्ध है, इसी कारण वह अनादि निघन है, अपनी सदृशतासे ही बनता है और अपनी सहायतासे ही उसका अस्तित्व है तथा वह निर्विकल्प है । इन सब विशेषणों से यह भली भाँति सिद्ध हो गया कि सन्मात्र स्वतःसिद्ध है । तो जैसे वस्तुका सामान्य धर्म स्वयंसिद्ध है उसी प्रकार वस्तुका विशेषधर्म भी स्वतः सिद्ध है अथवा वस्तु सामान्य विशेष धर्मात्मक है । जिसमें ही सामान्य धर्म पाया जाता है उसमें ही विशेष धर्म पाया जाता है । जैसे कि धातु सब धातुवें कहलाती हैं । सामान्य तौरसे जब पीतल, चाँदी, सोना आदिकको देखो तो वे सब धातु हैं परन्तु धातु तो सामान्य बात हुई, विशेषमें देखो तो कोई धातु पीली है, कोई सफेद है, किसीका सोना नाम है, किसीका चाँदी नाम है तो यह विशेषकी अपेक्षा कथन है । सामान्य तो सब एक है, चाँदी भी धातु कहलाती है, सोना भी धातु कहलाती है, यावन्मात्र पदार्थ उन सब पदार्थोंमें सामान्य धर्म पाया जाता है और विशेष धर्म भी पाया जाता है । वस्तुको केवल सामान्यधर्म वाला मानना अथवा केवल विशेष धर्म वाला मानना

यह मिथ्यादर्शन है और कोई पुरुष सामान्यको भी वस्तुधर्म मानते और विशेषको भी वस्तुधर्म मानते, परंतु मानते निरपेक्षरूपसे तो वह भी मिथ्या है। केवल सामान्य धर्म मानने वाले नित्यवादी लोग हैं, केवल विशेष धर्म मानने वाले क्षणिकवादी लोग हैं और कोई वस्तु सामान्यरूप कोई वस्तु विशेषरूप, यों निरपेक्षरूप मानने वाले भी कुछ दर्शन हैं, लेकिन विचार करनेपर वे सभी मिथ्या प्रतिभात होते हैं, इस कारणसे परस्पर अपेक्षा लिए हुए सामान्यविशेषात्मक उभयस्वरूप ही वस्तु है यह मान लेना चाहिए। इस बातको प्रमाणका विषय बताने हुए न्यायशास्त्रमें भी बताया गया है कि प्रमाणका विषय सामान्यविशेषात्मक पदार्थ है। नये विशेषात्मक कहो अथवा द्रव्य पर्यायात्मक कहो, दोनों ही एक बात है। द्रव्यको ग्रहण करने वाला निश्चयनय है, पर्यायको ग्रहण करने वाला व्यवहारनय है और प्रमाण द्रव्यात्मक समस्त वस्तुको ग्रहण करने वाला है। तो वस्तु सामान्यविशेषात्मक है, द्रव्य पर्यायात्मक है, नित्यानित्यात्मक है, ये सब बातें इसी आधारपर सिद्ध होती हैं कि जैसे वस्तु में सामान्य धर्म स्वतःसिद्ध है उसी प्रकार विशेषधर्म भी स्वतःसिद्ध है।

बहुव्यापकमेवैतत् सामान्यं सदृशत्वतः।

अस्त्यल्पव्यापको यस्तु विशेषः सदृशेतरः ॥२॥

**सामान्य और विशेषमें अन्तरप्रदर्शन**—इस गाथामें सामान्य और विशेषका स्वरूप और उनके अन्दर बताया गया है सामान्य बहुव्यापक है तो अनेक वस्तुओंमें रहने वाला है। सामान्य शब्द ही व्युत्पत्तिका यह अर्थ बतला देता है। अनेक वस्तुओंमें जो समान रूपसे रहे उस धर्मको सामान्य धर्म कहते हैं। तो सामान्य बहुव्यापक होता है, किन्तु विशेष अल्प व्यापक होता है। विशेष बहुत वस्तुओंमें नहीं रहता किन्तु खास-खास वस्तुओंमें रहता है, रहता सब वस्तुओंमें, कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है कि विशेष न पाया जाय, मगर जिन वस्तुओंमें जो विशेष पाया जाता है वह उनमें ही है अन्य वस्तुओंमें नहीं है। इस तरह विशेष अल्प-व्यापक होता है। व्यापकका अर्थ है जो बहुत जगह रहे; जो कम जगह रहे सो व्याप्य। तो यहाँ सामान्य व्यापक हुआ और विशेष व्याप्य। जैसे एक सत्त्वको लिया तो सत्त्व तो व्यापक है याने जीव पृद्गल, धर्म अधर्म सबमें रहता है, पर चैतन्य व्याप्य है अर्थात् वह जीव द्रव्यमें ही रहेगा अन्य द्रव्यमें नहीं। इस तरह व्यापक सामान्य भी वस्तुका स्वतःसिद्ध धर्म है और व्याप्य विशेष भी वस्तुका स्वतःधर्म है। सामान्यके भी प्रकार दो हैं और विशेषके भी प्रकार दो हैं—एक तिर्यक, दूसरी ऊर्द्धता, तिर्यक सामान्यमें वस्तुओंको समान परिणामसे बताया जाता है। जैसे सभी धातुवें रखी हैं चाँदी, सोना, ताँबा, पीतल आदिक, तो उन सब वस्तुओंमें धातुपना सबमें समानरूपसे रह रहा है। जैसे अनेक गौवें खड़ी हैं—जिनके रंग भी नाना प्रकारके हैं, अब उन सबमें गौरूपी परिणामन एक समान है, इसी कारण तो सभीको गौ कहते

पञ्चाध्यायी प्रवचन नवम भाग

हैं। अब विशेषरूपसे देखा जाय तो जो काली गौ है उसका परिणामन उसमें है, जो पीली गाय है उसका परिणामन उसमें है, यों सभी गायोंका परिणामन जुदा-जुदा है। तो यों जुदा-जुदा है परिणामन, अस्तित्व भी जुदा-जुदा है, फिर भी उन सबमें जो गोत्व सामान्य पाया जाता है वह सामान्य धर्म है। अथवा एक ही वस्तुमें जब अनेक वस्तुओंका उपचार किया जाता है—जैसे जीवमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र आनंद आदिक अनेक गुण हैं तो उन गुणोंका रहना एक सामान्यस्वरूप है अर्थात् एक ही साथ वे सब गुण रह रहे हैं, तो तिर्यकरूपसे सामान्य धर्म पाया जाय, एक ही कालमें जो सामान्य धर्म पाया जाय अनेकमें वह तिर्यक् सामान्य कहलाता है। ऊर्द्धता सामान्य होता है कालकी अपेक्षासे। पूर्व कालमें जो परिणामन था वह अगले क्षण मिट गया। अगले-अगले क्षणोंमें नवीन-नवीन परिणामन होता रहता है। उन सब परिणामनोंमें जो एक सामान्य धर्म रहता है वह ऊर्द्धता सामान्य कहलाता है। जैसे एक जीव नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव आदिक सब पर्यायोंमें उत्पन्न हुआ तो सभी पर्यायोंमें जो एक जीव है वह ऊर्द्धता सामान्य हुआ। तो यों सामान्य दो प्रकारका हुआ, इसी तरह विशेष भी दो प्रकारका है—एक तिर्यक् विशेष, दूसरा ऊर्द्धता विशेष। तिर्यक् विशेष नाम है एक ही समयमें जो नाना परिणाम होते हैं वे तिर्यक् विशेष हैं। जैसे—आत्मा में ज्ञानका परिणामन, दर्शनका परिणामन, आनंदका परिणामन, अनंत गुणोंका परिणामन एक साथ हो रहा है तो वह सब तिर्यक् विशेष कहलाया। और ऊर्द्धताकी दृष्टिसे देखनेपर कि जीवकी नारक तिर्यञ्च मनुष्य देव आदिक अनेक पर्यायों हुई हैं, उन सब पर्यायोंमें एक जीव है तो वे पर्यायों जैसे एक समयमें तो नहीं हैं, भिन्न-भिन्न समयोंमें हुए तो भिन्न-भिन्न समयोंमें होने वाली पर्यायोंको ऊर्द्धता विशेष कहते हैं।

जीवाजीवविशेषोस्ति द्रव्याणां शब्दतोर्थतः ।

चेतनालक्षणो जीवः स्यादजीवोप्यचेतनः ॥३॥

द्रव्योंके मूल भेद और उनका लक्षण—द्रव्य सामान्य कहनेसे जितने भी सत् हैं सबका ग्रहण हो जाता है। अब उन समस्त सत् पदार्थोंमें असाधारण धर्म पाया ही जाता है। असाधारण धर्म हुए बिना सत्त्व नहीं रह सकता। जैसे कि साधारण धर्म रहे बिना सत्त्व नहीं रहता, तो पदार्थमें साधारण और असाधारण दोनों प्रकारके धर्म पाये जाते हैं। तो अब सर्वप्रथम असाधारण धर्म बताकर द्रव्योंमें दो विभाग कर रहे हैं। द्रव्य मूलमें दो प्रकार का है—जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य। शब्द भी दो हैं और अर्थ भी दो हैं। जिसमें चैतन्य पाया जाय उसे जीव कहते हैं, जिसमें चैतन्य न पाया जाय उसे अजीव कहते हैं। तो चैतन्य असाधारण धर्म हुआ और इस असाधारण धर्मसे एक ऐसी विशेषता समझमें आयी जो अन्य द्रव्योंसे पृथक् कर देती है। और केवल एक चैतन्य लक्षण वाले जीवको प्रसिद्ध कर देती है।

जितने भी शब्द होते हैं उनका वाच्य अवश्य होता है। ऐसे जितने शब्द हों उतनी ही तरह से परखा जाते हैं, याने पदार्थ भी होते हैं। जब जीव और अजीव ये दो शब्द हैं तो जीव-द्रव्य अजीवद्रव्य समझा जाय ऐसा उनका वाच्यरूप अर्थ भी है। तो असाधारण धर्म चेतन है, यह बताकर यहाँ द्रव्यके दो विभाग कर दिये। कुछ द्रव्य जीव हैं, कुछ द्रव्य अजीव हैं।

नासिद्धं सिद्धदृष्टान्ताच्चेतनाऽचेतनद्वयम् ।

जीवद्वर्षुर्घटादिभ्यो विशिष्टं कथमन्यथा ॥४॥

चेतन और अचेतन दो द्रव्यविशेषोंकी सिद्धि—जीव और अजीव हैं इस बातकी सिद्धि दृष्टान्तसे भी हो जाती है, अनुभवसे भी हो जाती है। ये जीव अजीव दो पदार्थ नहीं होते, उनको एक ही मान लिया जाता होता तो जीवित शरीरमें, घट, पट आदिक जड़ पदार्थोंमें जो प्रत्यक्ष अन्तर दिखता है वह न दिखना चाहिए। सब जान रहे हैं कि जीवित शरीर जीव विशिष्ट है और मृतक शरीर जीवरहित है। आत्मा अनंत शक्त्यात्मक अमूर्त वस्तु है, उसका कोई प्रत्यक्ष तो कर नहीं सकता, परन्तु अनादिकालसे कर्मोंका सम्बंध होनेसे यह संसारी बना है, तो इस स्थितिमें आत्मा और शरीरमें भेद अनुमान प्रमाणसे अथवा स्वानुभवसे जान लिया जाता है। संसारी आत्मा जिस शरीरको ग्रहण करता है उसी प्रमाणमें फैला रहता है। तो जिस शरीरमें आत्मा है वही जीवित शरीर कहलाता है। तो जो जीवित शरीरकी क्रिया है वह ही आत्माकी सिद्धि करा देता है, और यहाँ भी यह देखा जा रहा है कि घट पट आदिक जड़ पदार्थ जुदे हैं और यह शरीर विशिष्ट जुदा पदार्थ है।

अस्ति जीवः सुखादीनां संवेदनसमक्षतः ।

यो नैवं स न जीवोस्ति सुप्रसिद्धो यथा घटः ॥५॥

सुखादिसंवेदनप्रत्यक्ष हेतुसे जीवद्रव्यकी सिद्धि—जीव नामक स्वतंत्र पदार्थ है, इसकी सिद्धिके लिए इस श्लोकमें अनुमान प्रमाण दिया गया है। इस अनुमान प्रमाणमें बताया है कि जीव है क्योंकि सुख आदिकका सुसम्वेदन ज्ञान होता है। जो सुख आदिकका अनुभव नहीं करता वह जीव भी नहीं है। यहाँ इस अनुमानको व्यतिरेक व्याप्तिसे घटाया गया है। जीव है, क्योंकि सुख आदिका सम्वेदन होता है। अब जिसमें सुख आदिकका सम्वेदन होता है वे सब जीव हैं ऐसी व्याप्ति किसी विरोधीको बतानेसे काम सिद्ध न होगा, क्योंकि विवादापन्न तो यह है कि जीव है, तब व्यतिरेक व्याप्तिसे बता रहे हैं कि जहाँ सुखादिकका सम्वेदन नहीं होता वह जीव नहीं है। जैसे घड़ा चौकी आदिक पदार्थ पदार्थ यहाँ सुखादिकका अनुभव नहीं है तो वह जीव भी नहीं है। जैसे कि मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, इस तरह आत्मामें जो मानसिक सुसम्वेदन ज्ञान होता है वह अनुभव ही यह सिद्ध करता है कि जहाँ यह अनुभव

हो रहा है वह जड़ पदार्थसे विलक्षण पदार्थ है। घड़ा, चौकी आदिक जड़ पदार्थोंमें सुख दुःखका अनुभव नहीं है, इस कारण वे जीव नहीं हैं। तो इस अनुमानमें व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा यह सिद्ध किया गया कि जो सुखादिकका अनुभव करता है वह जीव है, यों जीवादिक पदार्थोंकी सिद्धि इस श्लोकमें की गई है।

इति हेतुसनाथेन प्रत्यक्षेणावधारितः ।

साध्यो जीवस्वसिद्धर्थमजीवश्च ततोऽन्यथा ॥६॥

जीवसिद्धिमें समर्थ साधनकी अन्यथानुपपत्तिसे निर्दोषताकी प्रसिद्धि—“जीव है स्व-सम्बेदन प्रत्यक्ष होनेसे” यह अनुमान प्रयोग उक्त श्लोकमें बताया गया है, उसके अनुसार इस अनुमानसे जीव तत्त्वकी सिद्धि होती है। इस अनुमानमें हेतु तो बताया गया है स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष और साध्य यह बताया गया है कि जीव है। तो जहाँ हेतु पाया जाय और साध्य पाया जाय वह तो है अन्वयव्याप्ति, जहाँ साध्य न पाया जाय तो साधन भी न पाया जाय यह है व्यतिरेकव्याप्ति। व्यतिरेकव्याप्ति अन्वयव्याप्तिसे भी पुष्ट है। यहाँ व्यतिरेकव्याप्ति द्वारा जीवके अस्तित्वकी सिद्धि की गई है।

मूर्तामूर्तविशेषश्च द्रव्याणां स्यान्निसर्गतः ।

मूर्तं स्यादिन्द्रियग्राह्यं तदग्राह्यमूर्तिमत् ॥७॥

द्वितीय पद्धतिसे द्रव्यके भूल विशेषोंका कथन और स्वरूप—छहों द्रव्योंका पहिले सामान्य रूपसे विशेष विवरण किया गया था। अब उन छहों द्रव्योंमें पहिले दो विभाग किए गए थे—एक जीव, दूसरा अजीव। वह तो असाधारण चैतन्य लक्षणके माध्यमसे किया गया था। अब यहाँ दो भेद बताये जा रहे हैं—मूर्त और अमूर्तकी दृष्टिसे। छहों द्रव्योंमें कुछ द्रव्य तो मूर्त होते हैं और कुछ अमूर्त होते हैं। तो पदार्थोंमें जो यह स्वभाव या मूर्त अमूर्तपनेका भेद है वह स्वतः ही है। किसी निमित्तसे किया हुआ नहीं है। मूर्त किसे कहते हैं—जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श हो, मूर्त पदार्थ इन्द्रियसे जाना जाता है। जो इन्द्रियग्राह्य हो वह मूर्त है। कितने ही मूर्त पदार्थ ऐसे सूक्ष्म हैं जो इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य नहीं हैं लेकिन वे कभी स्कंध अवस्थामें इन्द्रियग्राह्य हो सकते हैं। बड़ा स्कंध होनेपर इन्द्रियसे भी जाना जा सकता है। तो इन्द्रियग्राह्य होना और रूप, रस, गंध, स्पर्शवान होना इन दोनोंका अविनाभाव है। जो पदार्थ इन्द्रियद्वारा ग्राह्य हो सकता है वही पदार्थ मूर्त होता है, रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला होता है, क्योंकि इन्द्रियके विषय ही ये हैं—रूप, रस, गंध, स्पर्श। जैसे चक्षुका विषय रूप है, रसनाका विषय रस है, घ्राणका विषय गंध है, स्पर्शनका विषय स्पर्श है, कर्णोन्द्रियका विषय शब्द होता है, तो वह शब्द भी रूप, रस, गंध, स्पर्शत्मक है। तब विषय विषयके नातेसे अर्थात् इन्द्रिय है विषय और रूपादिक हैं विषय। यों विषय विषयकी अपेक्षासे मूर्त पदार्थ

का लक्षण यह भी ठीक हो जाता है कि जो मूर्त ग्राह्य हो सो मूर्त पदार्थ है। यद्यपि कई मूर्त पदार्थ इतने सूक्ष्म होते हैं कि इन इन्द्रियों द्वारा ग्रहणमें नहीं आते। जैसे एक परमाणु, लेकिन वह परमाणु कभी मिलकर ऐसा स्कंध बन जाता है कि वह इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने लगता है, इस कारण मूर्तका लक्षण इन्द्रियग्राह्य होना युक्तिसंगत ही कहा गया है। और मूर्तका लक्षण रूप, रस, गंध, स्पर्शमय होता यह तो स्पष्ट ही है। तो सर्व द्रव्योंमें इस दृष्टिसे दो विभाग हो जाते हैं—मूर्त और अमूर्त। तो पदार्थोंके दो तरह के विभाग किए गए, पहिले तो जीव और अजीव, अब किए गए हैं मूर्त और अमूर्त। जानना तो हर एक ढंगसे चाहिए। मूर्त अमूर्तसे भी जानें, जीव अजीवसे भी जाने, पर इन दो विभागोंमें भेदविज्ञानके लिए प्रमुखता प्रथम विभागकी है। जीव और अजीव मुझ जीवको ज्ञानमें लेना है और अजीवसे हटना है, यह प्रयोजन जीव अजीव विभागके परिचयसे सिद्ध होता है। मूर्त अमूर्तमें यदि यह कहा गया कि मुझे अमूर्त ग्रहण करना है, मूर्तको छोड़ना है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि अमूर्त तो ५ प्रकारके पदार्थ हैं—जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। तो क्या इस अमूर्तको ग्रहण करना है? भेदविज्ञानके उपायकी दृष्टिसे जीव अजीवका विभाग बहुत संगत हो जाता है तभी द्रव्यसंग्रहकी प्रथम गाथामें जब प्रभुको नमस्कार करनेका प्रयास किया तो यही कहा कि जीव अजीवं दव्वं। जिसने जीव और अजीव द्रव्यको साक्षात् देखा है उस भगवानको मैं नमस्कार करता हूं। तो जीवमजीवकी तरह मुत्तममुत्तं भी कह सकते थे, छंद भी नहीं बिगड़ता था लेकिन मुत्तममुत्तं न कहकर जीवमजीवं दव्वं कहा गया, तो इससे यह भी ध्वनित होता कि मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत द्रव्योंका विभाग यही उत्तम है। यहाँ मूर्त अमूर्तकी बात चल रही है। जो इन्द्रियग्राह्य हो उसे मूर्त कहते हैं। और जो रूप, रस, गंध, स्पर्शात्मक हो वह मूर्तिक है।

न पुनर्वास्तवं मूर्तममूर्तं स्यादवास्तवम् ।

सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपातात्तथा सति ॥८॥

मूर्तद्रव्यकी तरह अमूर्तद्रव्यकी भी वास्तविकता—यहाँ किसीको यह आशंका न रखनी चाहिए कि मूर्त पदार्थ तो हैं और अमूर्त पदार्थ कुछ नहीं है, क्योंकि अमूर्त दिखनेका नहीं, इन्द्रियके गोचर नहीं, तो उसको कैसे मान लिया जाय कि कोई अमूर्त पदार्थ है? ऐसी आशंका यों न करनी चाहिए कि ऐसा माननेपर कि मूर्त पदार्थ ही तो वास्तविक है और अमूर्त पदार्थ वास्तविक नहीं है, इस मान्यतामें सर्व शून्यताका दोष आ जायगा। जो लोग इन्द्रियद्वारा ग्रहीत पदार्थको ही तो सत् मानते हैं कि इसका अस्तित्व है और जो इन्द्रियग्रहीत नहीं हो पाते, ऐसे पदार्थोंका अस्तित्व नहीं मानते उनका ऐसा पक्ष सही नहीं है। जो पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं हैं, परोक्ष हैं उन पदार्थोंको भी माने बिना पदार्थोंकी व्यवस्था नहीं बन सकती।

प्रथम तो यह ही देखिये कि जो ज्ञान अथवा कल्पनासे व्यवस्था बनाते हैं वह द्रव्य परोक्ष है या प्रत्यक्ष, अमूर्त है या मूर्त ? शंकाकार तो यह कहता कि जो परोक्ष हो, जो अमूर्त हो वह कुछ पदार्थ नहीं, और आत्मा इस समय प्रत्यक्ष नहीं और मूर्त भी नहीं है । तो इस ही आत्माको कोई न माने तो फिर अन्य पदार्थोंकी व्यवस्था करे ही कौन ? तो परोक्ष पदार्थोंके स्वीकार किए बिना पदार्थव्यवस्था हो ही नहीं सकती । और भी देखिये—मोक्ष पदार्थ है यह बात अनुमानसे भी सिद्ध होती है, और आगम प्रमाणसे भी सिद्ध होती है । अनुमान प्रमाण वहीं युक्त माना जाता है जहाँ अविनाभाव हेतु पाया जाय । सो जीवकी सिद्धिमें पहिला हेतु दिया ही गया है वहाँ जीवकी सिद्धि होती है और स्वानुभवसे अखण्डकी दृष्टिसे बिना बाधाके जीवतत्त्वकी सिद्धि होती है तथा शास्त्रोंमें अमूर्त तत्त्वकी सिद्धि की गई है । इस कारण यह शंका न रखनी चाहिए कि वास्तविक तो मूर्त ही है, अमूर्त तो अवास्तविक है । अमूर्त भी पदार्थ है और मूर्त भी पदार्थ है ।

स्पर्शो रसश्च गन्धश्च वर्णोऽभी मूर्तिसंज्ञकाः ।

तद्योगान्मूर्तिमद्द्रव्यं तदयोगादमूर्तिमत् ॥६॥

**मूर्तिमान् द्रव्यका स्वरूप—**रूप, रस, गंध, वर्णका नाम मूर्ति और जहाँ मूर्ति पायी जाय उसको मूर्तद्रव्य कहते हैं । और जहाँ मूर्ति न पायी जाय, रूप, रस, गंधमयी मूर्ति न पायी जाय तो वह अमूर्तद्रव्य कहलाता है । पुद्गलमें रूप, रस, गंध, वर्णरूप मूर्ति पायी जाती है इसलिए वे मूर्त कहलाते हैं । बाकी द्रव्योंमें यह मूर्ति नहीं है, रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है इस कारण वे सब अमूर्त हैं । अमूर्त पदार्थ भी वास्तवमें हैं और मूर्त पदार्थ भी वास्तवमें हैं ।

नासंभवं भवदेतत् प्रत्यक्षानुभवाद्यथा ।

सन्निकर्षोस्ति वर्णाद्यैरिन्द्रियाणां न चेतरेः ॥१०॥

**मूर्त पदार्थकी ही इन्द्रियप्रत्यक्षगोचरत्वकी संभवता—**इस गाथामें यह बतला रहे हैं कि प्रत्यक्ष अनुभवसे जैसे यह जाना जाता है कि मूर्त पदार्थोंमें ही इन्द्रियका सन्निकर्ष है, सो उससे यह बात प्रमाणित है कि रूप, रस, गंध, वर्णमयी मूर्तिके साथ इन्द्रियमें सन्निकर्ष होता है । दूसरे पदार्थोंके साथ इन्द्रियका सन्निकर्ष नहीं होता । अन्य-अन्य पदार्थ तो प्रत्यक्ष से सिद्ध हैं और अनुभवसे सिद्ध हैं । यों मूर्त पदार्थ अमूर्तग्राह्य होता है, यह बताया गया, पर इन्द्रियग्राह्य हो गए इस कारण मूर्त पदार्थ ही वास्तविक सत् है यह पक्ष नहीं लिया जा सकता । अमूर्त पदार्थ भी स्वानुभवसे, युक्तिके सिद्ध होता है, जैसे आकाशके सम्बंधमें लोगों की धारणा स्पष्ट है कि यह है आकाश । और आत्माके विषयमें अपने ही अनुभवसे यह बात स्पष्ट होती है कि यह है आत्मा । तो अमूर्त पदार्थ भी अनुभवसे और युक्तिसे सिद्ध हो ही



जाता है ।

नन्वमूर्तार्थसद्भावे किं प्रमाणं वदाद्यः नः ।

यद्विनापीन्द्रियार्थाणां सन्निकर्षात् खपुष्पवत् ॥११॥

अमूर्त पदार्थके सत्त्वमें प्रमाणकी जिज्ञासा—यहाँ शंकाकार रहता है कि अमूर्त भी कोई पदार्थ हुआ करता है । प्रमाण क्या है ? कारण यह है कि अब तक जितने पदार्थ समझे गए हैं वे सब ये सामने हैं और जिनका इन्द्रियके साथ सम्बंध होता है वे ही पदार्थ हैं ऐसी इच्छा होती है । अमूर्त पदार्थका इन्द्रियके साथ सम्बंध ही नहीं हो सकता । तब आत्मा का होना तो ऐसा है कि जैसे कोई कल्पना करे कि आकाशका फूल होता है । है नहीं कुछ आकाशका फूल, मगर मान लिया, इसी तरह है कुछ नहीं आत्मा मगर मान लिया । तो जब इन्द्रियके साथ आत्माका सम्बंध नहीं होता तो आत्मा कोई चीज नहीं है । जिन पदार्थोंके साथ इन्द्रियका सम्बंध हो सकता है और इसी कारण वह ज्ञात होता है बस पदार्थ तो वह ही है, उतना ही है । अब इस शंकाका समाधान देते हैं ।

नैवं यतः सुखादीनां संवेदनसमक्षतः ।

नासिद्धं वास्तवं तत्र कित्वसिद्धं रसादिमत् ॥१२॥

अमूर्त आत्मपदार्थकी प्रसिद्धि द्वारा अमूर्त पदार्थोंकी सत्ताकी सिद्धि—शंकाकारका यह कहना कि अमूर्त पदार्थका सद्भाव माननेमें कोई प्रमाण ही नहीं है, यह कथन संगत नहीं है, क्योंकि अमूर्त आत्मा स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष द्वारा भली प्रकार सिद्ध है । आत्मामें सुख दुःख आदिकका सम्वेदन होता है । उस सम्वेदन होनेके कारण आत्माकी स्पष्ट सिद्धि सुख दुःख आदिकका प्रत्यक्ष करने वाला आत्मा असिद्ध नहीं है । दुःखका अनुभव होता, सुखका अनुभव होता, जानकारी होती, ये सब बातें जहाँ हो रही हैं वही तो आत्मा है । तो आत्मा असिद्ध नहीं है, किन्तु वास्तविक है । हां आत्मा रसादिमान माना जाय तो यह असिद्ध है । आत्मा में रूप, रस, गंध, स्पर्शका होना असिद्ध है, पर आत्मा असिद्ध नहीं है । अमूर्त ज्ञान तो मलिन ज्ञान है अतएव वह तो परोक्षज्ञान है । और इन्द्रियज्ञानका विषय भी बहुत अल्प है और स्थूल है, केवल इन मोटे स्कंधोंको ही इन्द्रियज्ञान जान सकता है । सूक्ष्म पदार्थोंका विशद बोध यहीं इन्द्रियप्रत्यक्षसे ही होता है इसलिए जिसका इन्द्रियज्ञान होता है वह ही पदार्थ ठीक है, बाकी कोई पदार्थ ऐसा मानना संगत नहीं है, आत्मा है और बिना इन मूर्त पदार्थों के ज्ञानकी अपेक्षा निज आत्माका ज्ञान और भी स्पष्ट हो रहा है । क्योंकि सुख दुःख आदिक यहाँ सम्वेदन होता है उससे यह भली प्रकार ठीक समझा जा रहा है । अतएव आत्मा वास्तविक है, आकाश पुष्पवत् असत् नहीं है और आत्माके बारेमें परलोककी बात भी जो यह प्रसिद्ध है अथवा जातिस्मरण और भूतादिक योनियोंका होना अथवा कोई विडम्बना

बनना इन बातोंसे यह भी सिद्ध है कि परलोक है तो आत्मा है, यही तो अन्य लोकमें गया । तभी परलोक बना तो वर्तमानके सुख दुःख आदिकमें प्रत्यक्षसे भी आत्माकी सिद्धि है और इसका परलोक होता है उससे भी आत्माकी सिद्धि है ।

तद्यथा तद्रसज्ञानं स्वयं तन्न रसादिमत् ।

यस्माज्ज्ञानं सुखं दुःखं यथा स्यान्न तथा रसः ॥१३॥

आत्माकी रसादिमत्त्वलक्षणभूतिसे भिन्नताकी सिद्धि—रूप, रस, गंध, स्पर्श आत्मा में नहीं हैं, इससे आत्मा जुदा है ऐसा उक्त गाथामें बताया है, उसीका ही स्पष्टीकरण यहाँ कर रहे हैं कि आत्मामें जो रसका ज्ञान होता है वह तो ज्ञान है, रस नहीं है । रसका ज्ञान हो जानेसे कहीं ज्ञान रसवाला नहीं हो जाता, क्योंकि रस तो पुद्गलका गुण है । वह जीवमें कैसे आ सकता है ? जीवमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है, इसके विरुद्ध कोई इस तरहकी जिज्ञासा कर सकता है कि फिर रूपका ज्ञान होना, रसका ज्ञान होना यह कैसे बन जायगा ? अथवा रूप, रस आदिकका जो ज्ञान हो रहा है उससे मालूम होता है कि आत्मामें रूप, रस आदिक हैं अथवा आते हैं सो ये सब कल्पनायें करना मिथ्या है । आत्मा तो स्व और पर-पदार्थका जाननहार है और केवल जाननहार स्वरूपसे कोई भी बाह्य पदार्थ आत्मामें आ नहीं जाता है । तो पुद्गलके रूप, रस आदिका जो ज्ञान हो रहा है सो आत्मा ज्ञानस्वभाव के कारण जान रहा है उन्हें । इसका ज्ञान होनेसे ज्ञान कहीं रस वाला नहीं हो जाता । रस तो पुद्गलका गुण है, उसका तो पुद्गलके साथ तादात्म्य है, पुद्गलमें ही रहता है, उस जीव में आ नहीं सकता, यदि रूप रस आदिक भी आत्मामें आ जायें अथवा पाये जायें तो जैसे ज्ञान सुख दुःख आदिकका अनुभव होनेसे ज्ञानी पुरुष सुखी दुःखी बन जाता है उसी प्रकार रसका अनुभव होनेसे यह आत्मा रस वाला फिर बन जाय । रूपका ज्ञान किया तो यदि आत्मामें रूप माना जाय तो रूपका ज्ञान करनेसे आत्मा फिर रूपी हो जाय, काला, पीला, नीला बन जाय, किन्तु ऐसे हो तो नहीं सकता । इस कारण आत्मामें रूप, रस आदिक नहीं हैं । केवल उनका ज्ञाता है, ज्ञानमात्र होनेसे कहीं ज्ञेयरूप आत्मा नहीं बन जाया करता है । तो यों आत्मामें रूप, रस आदिक नहीं हैं किन्तु सुख, दुःख, ज्ञान आदिक जो आत्मामें परिणामन हो सकते हैं वे ही आत्माके कहे जाते हैं ।

नासिद्धं सुखदुःखादि ज्ञानानर्थान्तरं यतः ।

चेतनत्वात् सुखं दुःखं ज्ञानादन्यत्र न क्वचित् ॥१४॥

ज्ञानसे अनर्थान्तरभूत सुख दुःखादिकी सिद्धि—आत्मामें जो सुख दुःख आदिक भाव होते हैं वे ज्ञानसे अभिन्न हैं, अर्थात् ज्ञानसे अर्थान्तर नहीं है । इसका कारण यह है कि सुख दुःखका अनुभव भी तो चेतनता होनेसे हो रहा है । चैतन्यभावमें ही तो सुख दुःखका अनुभव

है। अचेतनमें तो सुख दुःख नहीं होते, और सुख दुःख भी क्या चीज हैं? एक प्रकारकी चेतना विधि ही तो है। किस तरहका चेतन करना कि सुख हो और किस तरहका चेतन करना कि दुःख हो, वहाँ यह चेतना विधि मिली हुई है। ज्ञानके सिवाय अन्य किसी भी जगह सुख दुःख आदिकका अनुभव नहीं हो सकता। इस कारण आत्मामें जो सुख दुःख आदिक भाव होते हैं वे ज्ञानसे भिन्न नहीं हैं, किन्तु ज्ञानस्वरूप ही हैं, और भेद दृष्टिसे यह जंचा कि ज्ञान उसे कहते हैं जिसकी जानकारी हो। सुख उसे कहते हैं जहाँ इन्द्रियको सुहावना लगने जैसी कल्पना हो। दुःख उसे कहते हैं जहाँ इन्द्रियोंको बुरा महसूस करने जैसा ख्याल हो। तो आखिर ये सब ज्ञानविधियाँ ही तो हैं, अतः ज्ञानको छोड़कर अन्यत्र कहीं सुख दुःखादिकका अनुभव नहीं होता है। तो ये सुख दुःखादिक आत्मामें नहीं भी हैं पर रूप, रस आदिक आत्मामें नहीं हैं।

न पुनः स्वैरसञ्चारि सुखं दुःखं चिदात्मनि ।

अचिदात्मन्यपि व्याप्तं वर्णादौ तदसम्भवात् ॥१५॥

सुख दुःखादिका अचेतनमें अभाव—ऐसा नहीं है कि सुख दुःख भाव जीव और अजीव दोनोंमें ही स्वच्छन्दतया रहें अर्थात् जैसे सुख दुःख जीवमें रह रहे वैसे ही सुख दुःख अचेतन पुद्गल आदिकमें रह जायें तो यह बात सम्भव नहीं हो सकती, क्योंकि सुख दुःखादिक भाव तो जीवके ही हैं। वर्णादिकमें सुखदुःखादिकका होना असम्भव ही है। प्रत्येक द्रव्य में अपने-अपने ही असाधारण गुण हुआ करते हैं, जिसमें वह पदार्थ स्वतंत्र रहता है, तो आत्मा का जो विशेष गुण है वह आत्मामें ही रहेगा। पुद्गलमें जो विशेष गुण है वह पुद्गलमें ही रहेगा। पुद्गलके विशेष गुण हैं रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिक, तो ये कहीं जीवमें न पहुंच जायेंगे। जीवके विशेष गुण हैं चैतन्य सुख दुःख ज्ञान आदिक, वे जीवमें ही पाये जा सकते हैं, अजीवमें नहीं। यहाँ इतनी बात विशेष जानना कि सुख दुःखादिक जीवके शाश्वत् भाव नहीं हैं, किन्तु आनंद नामकी शक्तिका विकृत परिणामन है। आनंद गुण तो आत्मामें शाश्वत् है, किन्तु सुखदुःखादिक आनंद गुणकी विकार परिणति हैं। वे सदा नहीं रहते, लेकिन फिर भी जिस कालमें रहती है सुखदुःखादिक परिणति उस कालमें वह जीवसे तन्मय है, और सुखदुःखादिक जीवमें ही होते हैं। तो यों सुखदुःखादिक जीव द्रव्यके असाधारण भाव वैभाविक भाव और जिस किसी भी समय आनंद गुण शुद्ध दशामें प्रकट होता हो उस समय वह स्वाभाविक भाव है। तो ये जीवद्रव्यको छोड़कर अन्य पुद्गल आदिकमें नहीं पाये जाते हैं, इस कारण ये रस आदिक आत्मामें नहीं हैं, क्योंकि ये पुद्गलके गुण हैं। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है और उसमें ज्ञान और आनंदशक्ति शाश्वत् है और उस ही का परिणामन आत्मा में होता रहता है। अतः आत्मा अशुद्ध नहीं है, किन्तु आत्मामें सुसम्बेदन प्रत्यक्ष होता है

उससे आत्माकी वास्तविकता प्रसिद्ध हो जाती है ।

ततः सिद्धं चिदात्मादि स्मादमूर्तं यदर्थवत् ।

प्रसाधितसुखादीनामन्यथाऽनुपपत्तितः ॥१६॥

चेतनात्माके अमूर्तत्वका निर्णय—उक्त विवेचनसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि आत्मा आदिक अमूर्त पदार्थ भी वास्तविक है, इसको न माननेसे स्वानुभव या सुख दुःखादिक की प्राप्ति नहीं हो सकती । यदि अमूर्त आत्मा नहीं है तो सुख दुःख आदिक किसमें उत्पन्न हों ? और होते हैं ही । सभीके अनुभवमें यह बात है कि सुख-दुःख आदिकका अनुभवन होता ही है । यदि आत्मा न होता तो सुख दुःख आदिकका परिणामन सम्भव ही न था, और फिर यह सारा ही जगत शून्य हो जायगा । आत्मा नहीं है तो जगतकी जानकारी ही क्या ? कौन करे जानकारी, और फिर जानकारी करनेका प्रयोजन ही क्या ? और फिर ये जो चौकी, पुस्तक, दरी, किवाड़ आदिक पदार्थ दिख रहे हैं ये सब हैं क्या चीज ? ये कभी एकेन्द्रिय जीव थे, और उस जीवके निकलनेके बाद फिर यह काय मात्र रह गया, उस हो कायसे ये सब चौकी, दरी, पुस्तक, किवाड़ आदि चीजें बनायी जा रही हैं । जैसे ये सब बने बाँस काठ आदिकसे तो बाँस काठ आदिक ये सब जंगलमें ही तो थे, एकेन्द्रिय जीव वनस्पतिकाय थे, अब उन्हें काट लिया और लोगोंने चौकी, कागज आदिक बनाया । तो ये उस जीवके ही तो काय हैं । जीव न होता तो काठ बाँस आदिक पर्याय तो न बनती । और जब वह काय न बनता तो ये साधन भी कहाँसे बन जाते ? तो यह जगत जो दिख रहा है इससे भी यह सिद्ध है कि जीव नामक पदार्थ है जिसके कारण ही यह सब नजर आ रहा है ।

नन्वसिद्धं सुखादीनां मूर्तिमत्त्वादमूर्तिमत् ।

तद्यथा यद्रसज्ञानं तद्रसो रसवद्यतः ॥१७॥

तन्मूर्तत्वे कृतस्त्यं स्यादमूर्तं कारणाद्विना ।

यत्साधनाबिनाभूतं साध्यं न्यायानतिक्रमात् ॥१८॥

आत्माको, ज्ञानको मूर्त सिद्ध करनेका शंकाकारका प्रयास—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि सुख दुःख आदिकको अमूर्त कहना असिद्ध है । सुख दुःखादिक तो मूर्त हैं । जैसे रसका ज्ञान होता है तो वह ज्ञान रसस्वरूप ही तो है । वह ज्ञान रस वाला है ना, इसी तरह सुख दुःख आदिकका ज्ञान है तो वह ज्ञान सुख दुःख वाला है । तो जैसे रस वाला ज्ञान होनेसे रस मूर्तिक है ऐसे ही सुख ज्ञानवाला ज्ञान होनेसे सुख दुःख भी मूर्तिक ही हो सकता है । तो सुख दुःख आदिक तो मूर्त हैं । उन मूर्त सुखदुःखादिकसे अमूर्त आत्माकी सिद्धि कैसे की जा रही है अथवा यहाँ सुखदुःखादिक अमूर्त कैसे सिद्ध किए जा रहे हैं ? रस वाला ज्ञान है तो ज्ञान अमूर्त तो नहीं है । ऐसे ही सुख दुःख वाला अनुभव है तो सुख दुःख भी

अमूर्त नहीं है। इस तरह सुखदुःखादिकमें मूर्तपना सिद्ध हो जाता है। तब ऐसे ही कारण बिना ही युक्तिके सुख दुःख आदिकका अमूर्तपना कैसे सिद्ध किया जा रहा है अथवा कैसे आ जायगा ? सुख दुःख आदिकमें अमूर्तपना कहनेका कोई कारण ही नहीं है। आखिर साध्यमें सिद्ध साधन किया जाता है तो किस साधनसे किया जाता है ? जो साध्यका अविनाभावी हो ऐसे साधनसे साध्यकी सिद्धि की जाती है, याने साध्यके अभावमें जो कभी हो ही न सके ऐसी कोई चीज अगर दिखी तो उससे सिद्ध होता है कि यह साध्य अवश्य है। तो जब सुख दुःखादिक ही सिद्ध न हुए, अमूर्त सिद्ध न हुए तो असिद्ध साधनसे अमूर्त आत्माकी सिद्धि यहाँ कैसे कही जा रही है ? जिस पदार्थका ज्ञान होता है वह ज्ञानी उसी पदार्थरूप हो जाता है। तो जब ज्ञान रूप रस, गंध, स्पर्शको जान रहा है उस समयमें वह ज्ञान रूप, रस आदिकमय ही हो रहा है। वह रूप, रस, गंध, स्पर्शस्वरूप ही ज्ञान है। तो यों ज्ञान भी मूर्त सिद्ध हो गया। तो सुखदुःखादिकके जब ज्ञान जान रहा है तो उस समय सुख दुःखादिक भी मूर्त सिद्ध हो जाते हैं। तो सुख दुःखादिक जब मूर्त सिद्ध न हुए तो उन अमूर्त सुखदुःखादिकके प्रत्यक्ष होनेका कारण बताकर आत्माके सत्त्वकी सिद्धिका जो प्रयास किया जा रहा है वह प्रयास व्यर्थ है, न्यायविरुद्ध है। आत्मा कोई वस्तु नहीं है, केवल जो प्रत्यक्षसे देख रहा है ऐसा मूर्त पदार्थ ही वास्तविक सत् है। आत्मा वास्तविक सत् नहीं है। तो जब आत्मा सत् न रहा तब जीवकी सिद्धि करके जो द्रव्यके दो विभाग बनाये जा रहे हैं कि द्रव्य जीव और अजीव इन दो भागोंमें विभक्त है, वह असिद्ध है। केवल एक द्रव्य ही मानना चाहिये और जो सामने प्रतीत हो रहा है केवल वही माना जाना चाहिये। ऐसी शंकाकारने आशंका की।

नैवं यतो रसाद्यर्थं ज्ञानं तन्न रसः स्वयम् ।

अथज्ज्ञानममूर्तं स्यान्मूर्तं मूर्तोपचारतः ॥१६॥

उक्त शंकाके समाधानमें ज्ञानके अमूर्तत्वकी तथा उपचारसे मूर्तत्वकी सिद्धि—शंकाकारकी उक्त शंका संगत नहीं है, क्योंकि रस आदिक पदार्थोंका जो ज्ञान होता है वह स्वयं रस नहीं बन जाता। ज्ञान ज्ञान ही रहता है और ज्ञान अमूर्त ही होता है। यदि मात्र पदार्थको विषय करनेसे ज्ञानको मूर्त कह दिया जाय तो वह केवल उपचारसे ही समझना चाहिए। वास्तवमें ज्ञान मूर्त नहीं होता। जिस पदार्थका ज्ञान होता है वह ज्ञान यदि उस पदार्थरूप परिणाम जाय तो इसमें तो बड़ी विडम्बना आ जायगी। जिस समय कोई नारकीके स्वरूपका ज्ञान कर रहा है तो वह नारकी बन बैठेगा क्या, अथवा कोई पुरुष सिंहका ज्ञान कर रहा है तो वह सिंह बन जायगा क्या ? ऐसा होता ही नहीं है, इस कारणसे जीव परपदार्थको जानता है परन्तु वह ज्ञान उस परपदार्थरूप नहीं बन जाता। हम आप लोगोंका ज्ञान क्षायोपशमिक

ज्ञान है फिर भी वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो वह अमूर्त ही है, क्योंकि वह आत्माका गुण है। ज्ञान मूर्त पदार्थको विषय करता है, इस कारण मूर्त बन जाय सो नहीं होता। ज्ञानमें कभी भी मूर्तपना नहीं आता। क्योंकि ज्ञान यदि मूर्त बन जाय तो वह ज्ञान ही न रह सकेगा। मूर्त होनेके कारण, वर्णादिक होनेके कारण वह तो पुद्गलकी तरह जड़ बन जायगा, फिर उससे कभी सम्बेदन हो ही न सकेगा, इसी बातको अब अगली गाथामें स्पष्ट करते हैं।

न पुनः सर्वथा मूर्त ज्ञानं वर्णादिमद्यतः ।

स्वसंवेद्याद्य भावः स्यात्तज्जडत्वानुषङ्गतः ॥२०॥

ज्ञानको मूर्त माननेपर अनिष्ट दोषापत्तियोंका विवरण—ज्ञानको मूर्त पदार्थका विषय करनेसे उपचार मात्रसे मूर्त कहा जाय तो उसकी यथार्थ समझ भी साथमें रखना चाहिए। वह केवल विषयके उपचारकी बात है। वास्तवमें वह ज्ञानमात्र नहीं बन जाता। हाँ मूर्तको विषय कर रहा, वर्णादिको जान रहा, इसलिए उसमें वर्णादिकका उपचार कह दिया जाय तो यह बात अलग है। जैसे कोई पुरुष डलियामें केला भरे हुए बेच रहा है, किसीको केलेकी जरूरत है तो वह कहता है ऐ केला ! यहाँ आवो। अब देखिये—उस व्यक्तिको केला कहा गया है पर कहीं वह केला तो न बन जायगा। इसी प्रकार ज्ञानने यदि इन वर्णादिमान पदार्थोंको विषय किया है तो उपचारसे कह दिया जाय मूर्त, पर वास्तवमें मूर्त नहीं है। यदि ज्ञान मूर्त हो जाय तो हो, पुद्गल मूर्त है तो वह जड़ है, इसी प्रकार ज्ञान भी मूर्त हो गया तो वह भी जड़ बन जायगा। और जड़ तो सुसम्बेदन हुआ नहीं करता। जब यह ज्ञान जड़ हो गया तो अपने आपका ज्ञान न कर सकेगा और अन्य पदार्थोंका भी ज्ञान न कर सकेगा। अतः ज्ञान वास्तवमें मूर्त नहीं है किन्तु अमूर्त ही है।

तस्माद्वर्णादिशून्यात्मा जीवाद्यर्थोस्त्यमूर्तिमान् ।

स्वीकर्तव्यः प्रमाणाद्वा स्वानुभूतेर्थागमात् ॥२१॥

प्रमाण, स्वानुभूति व आगमसे जीव पदार्थके असूतत्त्वकी सिद्धिका निर्णय—उक्त शंकाके समाधानमें यह बात स्पष्ट हो गयी है कि जीवादिक पदार्थ वर्णादिक भावोंसे रहित हैं, अमूर्त हैं। यह बात प्रमाणसे भी सिद्ध है और स्वानुभवसे भी स्वीकार कर लेना चाहिए। अपने आप अपने ज्ञानसे अपने ही स्वरूपका उपचार करनेपर समझमें आ जायगा कि यह में ज्ञान अथवा ज्ञानमय आत्मतत्त्व अमूर्त हैं। स्वानुभव इस अमूर्तपनेको सिद्ध कर देगा तथा आगमसे भी इतना निश्चय कर लेना चाहिए कि ज्ञान अथवा ज्ञानमय-जीव पदार्थ यह अमूर्त है और जीव ही क्या, जिन-जिन पदार्थोंमें वर्णादिक नहीं हैं वे सभी पदार्थ अमूर्त हैं। पुद्गलको छोड़कर शेषके ये ५ द्रव्य अमूर्त कहलाते हैं—जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। वर्णादिक जीवमें भी नहीं हैं, ज्ञानमें भी नहीं हैं, इस कारणसे जीव अमूर्त पदार्थ

ही है ।

लोकालोकविशेषोस्ति द्रव्याणां लक्षणाद्यथा ।

षडद्रव्यात्मा स लोकोस्ति स्यादलोकस्ततोऽन्यथा ॥२२॥

द्रव्यका लोक अलोकरूपमें विभाग—अभी पहिले समस्त द्रव्योंका दो प्रकारोंमें विभाग किया गया था—जीव और अजीव । और द्वितीय प्रकारसे विभाग किया गया है मूर्त और अमूर्त । अब यहाँ तृतीय ढंगसे विभाग किया जा रहा है लोक और अलोक । लोक और अलोकका विभाग भी द्रव्यके लक्षणकी अपेक्षासे हो जाता है, अर्थात् जहाँ छहों द्रव्य पाये जायें अथवा जो षडद्रव्यात्मक है वह तो लोक कहलाता है और जहाँ छह द्रव्य न पाये जायें उसे अलोक कहते हैं । अलोकका स्वरूप किसी अगली गाथामें कहेंगे और वहाँ स्पष्टतया बतायेंगे । यहाँ लोक शब्दका अर्थ बता रहे हैं । लोक कहते ही उसे हैं कि जहाँ छहों पदार्थ पाये जायें, जिसकी व्युत्पत्ति है—“लोक्यन्ते सत् पदार्था यत्र असौ लोकः” अर्थात् जहाँपर छह पदार्थ पाये जायें उसे लोक कहते हैं और जहाँ छह पदार्थ नहीं हैं उसे अलोक कहते हैं । इतना तो सब कोई अनुभव कर रहा है कि द्रव्योंका आधार आकाश है । ये द्रव्य रह कहाँ रहे हैं ? आकाशमें । तो जैसे आकाशमें आकाश समेत छहों द्रव्य हैं अथवा कहो जैसे आकाश में ५ द्रव्य हैं उसे लोकाकाश कहते हैं । आकाश तो है ही सर्वत्र । जहाँ लोकाकाश है वहाँ भी वही आकाश है और जहाँ अलोकाकाश है वहाँ भी वही आकाश है । इस कारणसे लोकाकाशकी व्युत्पत्तिमें आकाशको न कहा जाय तो कोई अनुचित बात नहीं । वह तो स्वतः सिद्ध है । अब यों समझिये कि जैसे जितने आकाशमें अन्य ५ द्रव्य हैं उसे लोकाकाश कहते हैं लेकिन जहाँ केवल आकाश ही है उसे अलोकाकाश कहते हैं । यहाँ यह बात समझ लेनी चाहिए कि आकाश एक अखण्डद्रव्य है । आकाशके दो विभाग नहीं हैं कि इस आकाशको लोक कहेंगे, इस आकाशको अलोक कहेंगे । आकाश तो सारा ही अनन्त प्रदेशात्मक एक अखण्ड द्रव्य है । उसमें जितने हिस्सेमें अन्य ५ द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोकाकाश कहते हैं और जहाँ ५ द्रव्य नहीं पाये जाते, केवल आकाश ही है उसे अलोकाकाश कहते हैं । आकाशके ये दो भेद निमित्तके भेदसे कहे गए हैं, अथवा उस आकाशके प्रकार ये दो नहीं हैं ।

सोप्यलोको न शून्योस्ति षडभिर्द्रव्यैरशेषतः ।

व्योममात्रावशेषत्वाद्द्रव्योमात्मा केवलं भवेत् ॥२३॥

अलोककी केवलाकाशात्मता होनेसे शून्यताकी असिद्धि—इस गाथामें अलोकका स्वरूप बताया गया है । जो अलोक है, जिसका कथन ऊपर किया गया है सो उसे यों न समझना कि छहों द्रव्योंसे शून्य है, किन्तु यह समझना कि केवल वहाँ आकाश है, बाकीके ५

द्रव्य नहीं हैं। छहों द्रव्योंमें आकाशद्रव्य भी है सो वह तो सर्वत्र है ही, पर जहाँ अन्य ५ द्रव्य नहीं हैं उसे अलोकाकाश कहते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि अलोक केवल आकाशस्वरूप ही है। उसे कहीं सर्वत्र शून्य न समझ लेना कि कुछ भी न हो उसको अलोक कहते हैं। वह अलोक आकाशद्रव्यात्मक है। अभावरूप नहीं है कि जो कुछ भी न हो उसे अलोक कहेंगे। अलोक और लोक ये सब एक ही आकाश हैं और आकाशमें षड्गुण हानि वृद्धि है, अर्थपरिणामन है। और जो भी परिणामन है आकाशका वह सर्वत्र एक ही परिणामन है, क्योंकि आकाश पूरा एक द्रव्य है। एक द्रव्यमें एक समयमें एक ही परिणामन होता है। वहाँ ऐसा न होगा कि लोकाकाशमें तो और तरहसे आकाशका परिणामन है, अलोकाकाशमें अन्य प्रकारसे आकाशका परिणामन है। वह समस्त आकाश एक ही है, अतएव एक परिणामन है। यहाँ कोई ऐसी आशंका कर सकता है कि परिणामनका कारण होता है कालद्रव्य और कालद्रव्य केवल लोकाकाशमें ही पाया जा रहा है, क्योंकि कहा गया है कि जहाँ शेष ५ द्रव्य रहें उसे लोकाकाश कहते हैं। तो लोकाकाशमें ही कालद्रव्य पाये गए और कालद्रव्य परिणामनका कारण है, तब लोकाकाशमें ही परिणामन बनेगा, अलोकाकाशमें नहीं बन सकता। यह शंका युक्त नहीं है। कारण यह है कि निमित्त कहीं भी पड़ा हो परिणामनका हेतुभूत कालद्रव्य यद्यपि लोकाकाशमें ही है तो भी वह कालद्रव्य आकाशके परिणामनका निमित्त हो रहा है तो हो रहा है और उस समय आकाश परिणाम रहा है, पर परिणाम रहा है वह सम्पूर्ण आकाश। यह आवश्यकता नहीं है कि किसी द्रव्यके पूर्ण परिणामनके लिए निमित्त उसके सर्वाशोंमें ही हो। किसीकी जगह न हो, सम्मुख हो, एक कोनेमें हो, कहीं भी हो, निमित्तकी उपस्थिति चाहिए। उपादानमें अपनी योग्यतासे परिणामन होता है, अर्थात् कालद्रव्यके परिणामनका निमित्त पाकर आकाश जो परिणामा सो वह सम्पूर्ण आकाश परिणामा। वहाँ परिणामनमें दो प्रकार न बन जायेंगे।

क्रिया भावविशेषोस्ति तेषामन्वर्थतो यतः ।

भावक्रियाद्वयोपेताः केचिद्भावगताः परे ॥२४॥

केवलभावात्मक व भावक्रियोभयात्मकके प्रकारोंमें द्रव्यका विभाग—अब उन छहों द्रव्योंके विभाग दूसरी प्रकारसे बता रहे हैं। छहों द्रव्योंमें कोई द्रव्य तो भावात्मक है और कोई द्रव्य क्रिया और भावात्मक दोनों प्रकारकी है। यहाँ छहों द्रव्योंमें ऐसे दो विभाग किए हैं—कोई तो केवल भावात्मक है और कोई भावात्मक व क्रियात्मक दोनों प्रकारका है। जो पदार्थ सदा एकसे रहते हैं, जिनमें हलन-चलन क्रिया नहीं होती, वे पदार्थ तो भाव रूप हैं, वहाँ क्रिया नहीं हो रही है, उन्हें क्रियात्मक नहीं कह सकते, किन्तु जो पदार्थ कभी क्रिया भी करते, कभी स्थिर भी रहते वे क्रियात्मक तो हैं, पर भावात्मक भी नियमतः हैं।



तब ऐसे पदार्थ जिनमें परिस्पंद सम्भव है वे भावस्वरूप भी हैं और क्रियास्वरूप भी हैं। इस विषयको इस तरहसे समझ लेना चाहिये कि जिन पदार्थोंमें क्रियावती शक्ति नहीं है अर्थात् जिनमें हलन-चलनरूप क्रिया नहीं हो सकती है वे केवल भाववती शक्ति वाले हैं, किन्तु जिन पदार्थोंमें क्रियावती शक्ति होती है वे क्रियात्मक हैं, पर अन्य सभी प्रकारके जो परिणामन भी चल रहे हैं वे भावात्मक परिणामन हैं। भाववती शक्ति ही केवल जिनमें पायी जा रही है वे भी निरन्तर परिणामन किया करते हैं। हाँ एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें गमन कर जायें ऐसा परिणामन उनमें नहीं होता है। परिणामन तो सदा सभी पदार्थोंमें होता ही रहता है। अब परिणामनकी दो विधियाँ हैं—एक तो ऐसा परिणामन कि कोई वस्तु एक जगहसे दूसरी जगह चली जाय, स्थानसे स्थानान्तर हो जाय तो ऐसे परिणामनका नाम है क्रियारूप परिणामन। लेकिन जहाँ ऐसा परिणामन हो कि प्रदेशका हलन-चलन तो नहीं है, एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमन तो नहीं है परन्तु पहिली अवस्था विलीन होकर दूसरी अवस्था उत्पन्न हुई है ऐसा परिणामन चलता ही रहता है, इसके भावपरिणामन कहते हैं। जैसे देख लीजिए कि एक अंगुली यह यदि जरा भी न चले तो भी इसमें परिणामन है, जीर्ण हो रही है, पुरानी बन रही है, पहिले और प्रकारका परिणामन था, अब और प्रकार परिणामन हो रहा है तो यह भावपरिणामन है, और यही अंगुली थोड़ी हिलेडुले तो हलन-डुलन क्रियारूप परिणामन है। इस तरह द्रव्योंमें दो प्रकारके परिणामन वाले द्रव्य हैं क्रियारूप परिणामन वाले और भावरूप परिणामन वाले। अब उन दोनों प्रकारके परिणामन वाले पदार्थोंके विभाग किए जा रहे हैं।

भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जीवपुद्गलौ ।

तौ च शेषचतुष्कं च षडेते भावसंस्कृताः ॥२५॥

जीव और पुद्गलकी भावक्रियोभयात्मता तथा शेष चार द्रव्योंकी केवलभावात्मकता—समस्त द्रव्य ६ जातिके हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन छह द्रव्यों में से जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य भावात्मक हैं और क्रियात्मक हैं, दोनों प्रकार हैं और शेषके चार द्रव्य—धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये केवल भाव जीवात्मक हैं याने जीव और पुद्गलमें तो क्रियावती और भाववती दोनों शक्तियाँ पायी जाती हैं। परन्तु धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्योंमें केवल भाववती शक्ति ही पायी जाती है। यही कारण है कि ये चार द्रव्य निष्क्रिय बताये गए हैं। सिद्धान्त शास्त्रमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश-द्रव्य और कालद्रव्यको निष्क्रिय कहा गया है। धर्मद्रव्य तो असंख्यातप्रदेशी है और समस्त लोकाकाशमें व्याप्त है। अधर्मद्रव्य भी असंख्यातप्रदेशी और समस्त लोकाकाशमें व्याप्त है। आकाशद्रव्य लोक और अलोक सर्वत्र एक अखण्ड व्यापक है और कालद्रव्य लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर एक-एक कालाणु अवस्थित है। ऐसे असंख्यात कालद्रव्य हैं। तो वे सभी

कालद्रव्य जो जहाँ स्थित हैं शाश्वत् वहाँ ही रहते हैं, उनमें भी किसी प्रकारका हलन-चलन नहीं होता है। यों चार द्रव्य तो केवल भावात्मक हैं और जीव पुद्गल भावात्मक भी हैं और क्रियात्मक भी हैं।

तत्र क्रिया प्रदेशानां परिस्पंदश्चलात्मकः ।

भावस्तत्परिणामोस्ति धारावाह्येकवस्तुनि ॥२६॥

**क्रिया और भावका स्वरूप**—इस गाथामें क्रिया और भावका स्वरूप कहा गया है। प्रदेशका जो चलात्मक परिस्पंद है उसको क्रिया कहते हैं अर्थात् आत्मा एक स्थानसे दूसरे स्थानपर चला जाता है, यह क्रियावती शक्तिके कारण जाता है। तो प्रदेशके चलनात्मक परिस्पंदको क्रिया कहते हैं। अर्थात् प्रदेशकी हलन-चलनको क्रिया कहते हैं और इसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तुमें जो धारावाही परिणामन है उसे भाव कहते हैं। याने जो परिणामन निरन्तर होते ही रहते हैं, जहाँ परिणामन रुकता नहीं है, धारावाही रूपसे परिणामन होता है उसको भाव कहते हैं। यहाँ यह बात समझनी चाहिए कि हलन-चलन प्रदेशात्मक जो क्रिया है सो यह सदा धारावाही नहीं रहती। कभी किसी कारण चलित हो गया, चलित ही रहे ऐसा नहीं है। जैसे कि स्कंध ये कभी किसीका प्रयोग पायें, या इनमें स्वयंमें कोई योग्यता बने तो ये चलते हैं, पर ये चलते ही रहें, कभी स्थिर ही न हों ऐसा यहाँ नियम नहीं है। कभी चलते भी हैं, स्थिर भी होते हैं और जो भावात्मक परिणामन है वह निरन्तर ही होता है। जैसे रूप, रस, गंध, स्पर्शका जो परिणामन हो रहा है वह निरन्तर हो रहा है। किसी भी समय रूपका परिणामन रुक जाय या किसी अन्य गुणका परिणामन रुक जाय ऐसा नहीं होता है। तो जो परिस्पंदात्मक परिणामन है उसको क्रिया कहते हैं तथा जो धारावाही परिणामन है उसको भाव कहते हैं।

ना संभवमिदं यस्मादर्थाः परिणामिनोऽनिशं ।

तत्र केचित् कदाचिद्वा प्रदेशचलनात्मकाः ॥२७॥

**भाव और क्रियाके असंभवत्वका निराकरण**—पदार्थ निरन्तर परिणामन किया करते हैं और उन्हीं परिणामनोंमें कभी-कभी प्रदेश चलनात्मक भी परिणामन होते हैं, यह बात असंभव नहीं है, क्योंकि पदार्थमें यह स्वभाव ही है कि वह प्रतिक्षण उत्पादव्ययध्रौव्यरूप रहा करे। तो भावात्मक परिणामनमें तो कोई संदेह है ही नहीं। इस सम्बंधमें तो प्रथम परिच्छेदमें भी बहुत वर्णन किया जा चुका है। जहाँ परिणामन न हो वह पदार्थ ही नहीं है। जो भी सत् है वह नियमसे परिणामनशील होता है। कितने ही परिणामन हमारे ज्ञानमें आ नहीं सकते छद्मस्थ होनेके कारण, कितने ही स्थूल परिणामन हमारी दृष्टिमें आ जाते हैं। लेकिन परिणामन प्रतिक्षण होते हैं। अनंत शक्ति वाले पदार्थमें कोई भी शक्ति परिणामन-

शून्य नहीं रहा करती है। तो पदार्थ प्रतिक्षण परिणामन करता ही रहता है, परन्तु यहाँ यह विशेषता जाहिर की गई कि जीव और पुद्गलमें उनके प्रदेशके हलन-चलन रूप क्रिया भी कभी होती है, अर्थात् जीव और पुद्गल ये दो पदार्थ तो भावरूप तथा क्रियारूप दोनों प्रकार से परिणामन करते हैं किन्तु शेष चार द्रव्य केवल भावरूप परिणामन करते हैं। तो यों परिणामते रहते पदार्थोंमें दो पदार्थ ऐसे हैं कि वे अगुरुलघुत्व गुणके निमित्तसे प्रतिक्षण परिणामन तो करते ही हैं, पर दोनों द्रव्योंमें जीव पुद्गलमें स्थानसे स्थानान्तर पहुंचानेकी भी शक्ति है, अन्य द्रव्य जहाँके तहाँ निष्क्रिय रहते हैं।

तद्यथाचाधिचिद्द्रव्यदेशना रम्यते मया ।

युक्त्यागमानुभूतिभ्यः पूर्वाचार्यानतिक्रमात् ॥२८॥

जीवद्रव्यके स्वरूपविवरणका संकल्प—अब इस गाथामें ग्रंथकार संकल्प करता है कि अब हम चैतन्य द्रव्यके विषयमें व्याख्यान करेंगे। यहाँ इन शब्दोंमें कहा गया है कि चिद्द्रव्यके विषयमें अब देशना उसके द्वारा रुचिकर होती है, रम्य होती है। सर्व द्रव्योंमें चैतन्य द्रव्य ही एक ऐसा तत्त्व है जो ज्ञानानन्द रससे भरपूर है। व्याख्याता स्वयं चैतन्यद्रव्य है और उस चैतन्यद्रव्यकी कहीं न कहीं रमण करनेकी प्रकृति बनी हुई है। तो उस ही शक्ति का स्मरण करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि अब हम चैतन्यद्रव्यकी देशनामें रम्येगे। तो इस चैतन्यद्रव्यका जो व्याख्यान किया जायगा सो युक्ति आगम और अनुभूतिसे किया जायगा और इसमें जो भी व्याख्यान होगा पूर्व आचार्यके आशयका उल्लंघन न होगा। इस गाथामें चार बातें बतायी गई हैं। पदार्थकी सिद्धि युक्तिसे की जायगी, पदार्थकी सिद्धि अनुभवसे की जायगी और आगमसे की जायगी। साथ ही जो कुछ भी कथन होगा तो पूर्वमें महर्षि जनों की विवेचनासे विरोध न होगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि जब इस कथनमें आगमसे, युक्तिसे, अनुभवसे और पूर्वाचार्योंके कथनसे विरोध नहीं है तो वह देशना नियमसे ग्राह्य है, किसी भी प्रकार अग्राह्य नहीं हो सकती। यहाँ दो मुख्य गुण स्पष्ट हुए हैं कि ग्रंथकार उत्सूत्र नहीं है अर्थात् आगमके विरुद्ध कहने वाले नहीं हैं। दूसरी बात यह सिद्ध हुई कि यहाँ जो वर्णन आयागा वह अयुक्त कथन नहीं है। इस प्रकार प्रमाणीक वचनके साथ ग्रंथकार यहाँ संकल्प कर रहे हैं कि अब हम यहाँ चैतन्यद्रव्यके विषयमें वर्णन करेंगे।

प्रागुद्देश्यः स जीवोस्ति ततोऽजीवस्ततः क्रमात् ।

आश्रवाद्या यतस्तेषां जीवोधिष्ठानमन्वयात् ॥२९॥

सात तत्त्वोंमें जीवतत्त्वकी प्रागुद्देश्यता—जीवादिक ७ तत्त्वोंमें से यहाँ सबसे पहिला उद्देश्य जीवतत्त्व बनाया गया है, तो पहिले जीवतत्त्वका निरूपण किया जाता है। इसके पश्चात् अजीव तत्त्वका वर्णन होगा। फिर क्रमशः आरुच, गंध, स्रवर, निर्जरा, मोक्षका

प्रतिपादन किया जायगा। जीवका सर्वप्रथम प्रतिपादन करनेका लक्ष्य यह है कि सम्पूर्ण तत्त्वोंका आधार तो मुख्यतया जीव ही है। प्रतिपादन परिज्ञान समझना यह भी जीवतत्त्वके सहारे है, और जो कुछ भी जगतमें यह दृश्य निर्माण हो रहा है, इसका भी मूलमें सहारा जीवद्रव्य है। तो ये सब जीवके काय ही नजर आ रहे हैं। भीत, चौकी आदिक ये सब कोई स्थावर काय थे, वे ही जब जीवरहित हो गए तो उनके उपयोगके लिए इस प्रकार कर लिए गए। तो जो कुछ भी यहाँ नजर आ रहा है उसमें भी आधार जीव ही था। तो यों सर्व रचनाओंमें भी आधार जीव है और प्रतिपादन करने वाला, समझने वाला, समझाने वाला भी जीव है। ७ तत्त्वोंके सम्बंधमें मुख्य आधार जीव है। जैसे आस्रवका वर्णन है उसका अर्थ है जीवमें अजीवका आना। सम्बरका अर्थ है जीवमें अजीवका आना रुक जाना। निर्जराका अर्थ है जीवमें अजीवका हट जाना। मोक्षका अर्थ है अजीवका जीवसे सर्वथा पृथक् हो जाना। तो इन तत्त्वोंके विवेचनमें भी मुख्यतया आधार जीवद्रव्य है। इस कारण सर्वप्रथम जीवद्रव्य का वर्णन करना यह उद्दिष्ट किया गया है। अथवा वास्तविक दृष्टिसे बताया जाय तो ७ तत्त्व जीवद्रव्यकी अवस्था विशेष है। तो ७ तत्त्वोंमें जीवतत्त्व ही एक मुख्यता रख रहा है, इस कारण सर्वप्रथम जीवतत्त्वका वर्णन किया जा रहा है।

अस्ति जीवः स्वतस्सिद्धोऽनाद्यनन्तोऽप्यमूर्तिमान् ।

ज्ञानाद्यनन्तधर्मादि रूढत्वाद् द्रव्यमव्ययम् ॥३०॥

जीवतत्त्वके अस्तित्वकी सिद्धि—जीवद्रव्य स्वतः सिद्ध है, आदिअंतरहित है, अमूर्तिक है, ज्ञान, दर्शन, आनंदशक्ति आदिक अनंत धर्मात्मक है और यह जीवद्रव्य अविनाशी है। जीवद्रव्यके वर्णनसे यह बात तो स्वतःसिद्ध ही हो जाती है कि जीव है, जीवका अस्तित्व नहीं है, कुछ दार्शनिक जीवद्रव्यका अस्तित्व ही नहीं मानते। उनका कथन है कि जीवद्रव्य कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं है, किन्तु पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन ५ भूतोंसे मिलकर जीवद्रव्य बना है। तो जीवद्रव्यका अस्तित्व न मानने वाले आशयका यह निराकरण स्वतः ही हो जाता है और जीव स्वतःसिद्ध है। इससे यह जाहिर हुआ कि ५ भूतोंसे निष्पन्न नहीं है किन्तु वह अपने आप ही सिद्ध है। जीवद्रव्य अनादि अनंत है। जीवद्रव्य कबसे हुआ, कब तक रहेगा, इसकी न कोई आदि है और न अंत है। जितने भी सत् हैं, किसी भी सत्की न आदि है, न अंत है। सत् है इस कारण वह अनादिसे है और अनंतकाल तक रहता है। जीव भी स्वतःसिद्ध सत् है अतएव वह भी अनादिसे है और अनंतकाल तक है। क्षणिकवादियोंके द्वारा जैसे कि आत्माको क्षणिक माना है वह बात इस विशेषणसे निराकृत हो जाती है। क्षणिकमें आदि और अंत दोनों मानने पड़ते हैं और क्षणिकवादियोंने तो एक-एक क्षणका आत्मा माना है। ऐसा भी नहीं माना गया कि किसी शरीरमें जन्म लेते

हैं। जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त एक जीव हो, किन्तु प्रतिक्षण नवीन-नवीन जीव ही बनता चला जाता है। इस आशयका निराकरण अनादि अनन्त विशेषणसे स्वयं हो जाता है। जीव शाश्वत् है, अनादि अनन्त है, केवल पर्यायदृष्टिसे अन्य-अन्य रूप होते हैं, किन्तु वह वास्तवमें अनादि अनन्त ही है।

जीवद्रव्यकी अभूतिकता व अनन्तधर्मात्मकता एवं अविनाशिता—जीवद्रव्य अमूर्तिक है। इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है। रूप, रस, गंध, स्पर्श होता तो यह पुद्गलकी भाँति किसी पिण्डरूप होता। और फिर यह जाननेका भी स्वभाव न रख सकता था। और स्वानुभवसे भी यह सिद्ध होता है कि जीवमें रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिक नहीं हैं, यों जीव अमूर्तिक है। इस जीवके ज्ञान, दर्शन, आनन्द, वीर्य आदिक अनन्त धर्म पाये जाते हैं। जीव जानता है—यह बात सभी लोग समझ रहे हैं। कुछ जान ही तो रहे हैं, कुछ समझ ही तो रहे हैं। जीवमें दर्शन है तो सामान्य प्रतिभास भी करता है यह भी भली भाँति समझमें है। जीव आनन्दमय है, जिसके कि आजकल सुख और दुःखरूप विकारमय परिणाम रहते हैं और जिसका शुद्ध परिणामन सुख दुःखसे रहित आनन्द है। जीवमें शक्ति भी है, इस तरह यह जीव ज्ञान, दर्शन, सुख शक्ति आदिक अनन्त धर्मस्वरूप है तथा यह जीवद्रव्य अविनाशी है, इसका कभी भी विनाश नहीं हो सकता है। जीवद्रव्यमें ज्ञान, दर्शन आदिक जो गुण पाये जा रहे हैं वे गुण भी जीवद्रव्यकी ही तरह अनादि अनन्त होते हैं। इसका कारण यह है कि गुण अलग चीज नहीं, जीव अलग चीज नहीं, किन्तु एक ही अखंड जीवद्रव्यका विवक्षावश समझनेके लिए तीर्थप्रवृत्तिके लिए भेदपद्धतिसे अंशरूपसे वर्णन किया गया है। तो यह अंश शाश्वत अंश है। गुण भी जब अनादि अनन्त है तब समझना चाहिए कि यह जीवद्रव्य विनाशरहित ही है।

साधारणगुणोपेतोप्यसाधारणधर्मभाक् ।

विश्वरूपोप्यविश्वस्थः सर्वोपेक्षोपि सर्ववित् ॥३१॥

जीवद्रव्यका साधारणगुणोपेतत्व एवं असाधारणधर्मभाक्त्व—यह जीव साधारण गुणोसे सहित है और फिर भी असाधारणसहित है। यह जीव विश्वरूप हो रहा है फिर भी विश्वमें ठहरा नहीं है। यह जीव सर्वकी उपेक्षा रखने वाला है, फिर भी सबको जानने वाला है। इस गाथामें जीवका स्वरूप विरोधालंकारमें वर्णित किया गया है। शब्दोंकी दृष्टिसे प्रथम ही विरोधालंकारमें वर्णित किया गया है। शब्दोंकी दृष्टिसे प्रथम ही विरोध देखिये—कह रहे हैं कि जीव साधारण गुणोसे सहित है, और साधारण धर्म वाला नहीं है। तो साधारण धर्म वाला नहीं है इसका अर्थ अविरोध अर्थमें यह करना चाहिये कि असाधारण धर्म वाला है, यह जीव विश्वरूप है, फिर भी विश्वमें नहीं है। यहाँ अविरोधरूप अर्थ यह करना चाहिये

कि यह जीव विश्वरूप बन रहा है, सर्वको जान रहा है, फिर भी किसी बाह्यपदार्थ या किसी भी अन्य पदार्थके स्वरूपमें यह नहीं है। तीसरा अलङ्कार बताया है कि जीव सबसे उपेक्षा रखने वाला है, फिर भी सबका जानने वाला है। तो उपेक्षा रखना, उससे हटना और फिर उसका जानने वाला बनना, स्थूल शब्दोंमें विरोध दिख रहा है पर अविरोध अर्थमें यह समझना चाहिये कि जीवकी प्रकृति सबसे उपेक्षा करनेकी है फिर भी यह जानता सबको है। जीव ६ साधारण धर्मोंसे युक्त है, इस विषयमें पहिले भी वर्णन किया गया है—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्त्व और प्रमेयत्व ये ६ सामान्यगुण हैं। ये सभी द्रव्योंमें रहते हैं जीव में भी रह रहे हैं। इस कारण साधारण धर्म कहा जाता है। किन्तु जीव चेतन असाधारण धर्मवाला भी है। असाधारण धर्म न हो तो साधारण धर्म भी नहीं ठहर सकता। इस कारण जीव साधारण धर्मोंसे सहित है और असाधारण धर्मवाला भी है।

**जीवद्रव्यकी विश्वरूपता व अविश्वस्थता**—जीव विश्वरूप है क्योंकि यह असंख्यात-प्रदेशी है, प्रदेशकी समानतासे तो लोकाकाश प्रदेश प्रमाण जीव, इसलिए जीवको विश्व भी कहते हैं। ऐसा विश्वरूप होनेपर भी सारे विश्वमें स्थित नहीं है, किन्तु वह अपने प्रदेशमें ही स्थित है। जब केवली समुद्रातसे एक समयको लोकपूरण समुद्रातके समय जब सारे लोकमें समा जाता है तो यह अरहत आत्माका प्रदेश उस समय भी यह लोकाकाशके प्रदेशमें नहीं है, किन्तु अपने प्रदेशमें है। सभी द्रव्य आकाशमें रहकर भी निश्चयसे अपने स्वरूपमें ही रहते हैं। दूसरी प्रकारसे आत्माको विश्वरूप देखें तो यों निरखिये कि आत्मा सर्व विश्वको जानता है और उस जाननकी दृष्टिसे यह जीव सारे विश्वरूप बन गया है, क्योंकि आत्मा ज्ञानगुण प्रधान है, वह जान रहा है, और जाननेमें सारे विश्वका आकार ग्रहण हुआ है। तो यह आत्मा सर्वविश्वमय बन गया है, फिर भी अपने प्रदेशसे बाहर कहीं भी स्थित नहीं है, इस कारण यह विश्वरूप भी है और विश्वमें स्थित नहीं है।

**जीवद्रव्यकी सर्वोपेक्षता व सर्ववेदिता**—यह आत्मा सर्वकी उपेक्षा करने वाला है फिर भी यह सर्वका जाननहार है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे ही सत् है, परस्वरूपसे सत् नहीं है। इस कारण प्रत्येक पदार्थ ही परसे न्यारा है और समस्त परकी उपेक्षा करने वाला है, लेकिन जड़ पदार्थोंमें उपेक्षाका व्यवहार नहीं किया जाता। जहाँ रागद्वेषकी सम्भावना नहीं वहाँ उपेक्षाका भी व्यवहार नहीं होता है। किन्तु रहते सभी पदार्थ अन्य सर्व पदार्थोंसे न्यारे। तो यह आत्मा सर्व पदार्थोंसे निराला है और सर्वकी उपेक्षा रखने वाला है, इतनेपर भी यह सर्वका जाननहार है। सबकी उपेक्षा है किसीमें यह लगा नहीं है लेकिन अपने ज्ञानगुणके प्रयाससे अपने ही प्रदेशोंमें रहता हुआ यह सर्वको जान लेता है। इस तरह जीवका स्वरूप एक अलंकारिक भाषामें कहा गया है।

असंख्यातप्रदेशोपि स्यादखण्डप्रदेशवान् ।

सर्वद्रव्यातिरिक्तोपि तन्मध्ये संस्थितोपि च ॥३२॥

जीवका असंख्यातप्रदेशवत्त्व होनेपर अखण्डप्रदेशवत्त्व—यह जीव असंख्यात प्रदेश वाला है। जीव असंख्यातप्रदेशी है यह समझा कैसे गया? अब जीव संकोच विस्तार करता हुआ जिस पर्यायमें, जिस देहमें रहता है वह उस देह प्रमाण हो जाता है। चींटीके शरीरमें गया तो वह पाव इंचके आकारका हो गया, हाथीके शरीरमें गया तो यह इतने विशाल आकारका हो गया। विशाल आकारका हो होकर अधिकसे अधिक विशाल आकार क्या हो सकता है उसको जानकर उनका प्रदेश निर्णय कर लिया जाता है। लोकपूरण समुद्धातमें यह जीव लोकके आकारका हो जाता है। तो इससे जाना गया कि यह जीव असंख्यातप्रदेशी है। यद्यपि इतने विस्तारका जीव जीवनमें और सारी सत्तामें केवल एक बार होनेका प्रसंग आता है। पुनः अरहंत अवस्था नहीं, यह अरहंत अवस्था हो, लोकपूरण समुद्धात हो, ये जिस जिसके हो सकते हैं एक बार ही होंगे तो दुबारा यह सम्भावना नहीं है, लेकिन जीवमें उतने प्रदेश नहीं होते तो इतने विस्तार वाला हो ही न सकता था। इस आधारपर यह निर्णय हुआ कि जीव असंख्यातप्रदेशी है। तो असंख्यातप्रदेशी है फिर भी यह अखण्ड द्रव्य है, अखण्ड क्षेत्री है, इसके प्रदेश सब अभिन्न हैं। जैसे एक चटाई तीन चार हाथ लम्बी, दो हाथ चौड़ी है तो उसमें खण्ड किये जा सकते हैं और उनके कभी हिस्से भी हो जाते हैं। इस तरह आत्माके कभी न खण्ड होते हैं, न प्रदेशमें हिस्से होते हैं। प्रदेशके हिस्से कल्पनापर हैं। जीव इतने बड़े विस्तार वाला है तो लोकाकाशके प्रदेशके मापसे इसकी माप करके असंख्यातप्रदेशी कहा गया है। वस्तुतः सत् अखण्ड स्वक्षेत्री है और प्रदेश भी क्या है? जीवमें जो अनंत गुण हैं वे ही प्रदेश हैं। प्रदेश गुणात्मक ही है। ऐसा नहीं है कि जीवके प्रदेश कुछ अलग सत् हों और उनमें अनंत गुण हों। जीव अनंत गुणात्मक है और इस ही रूपसे इतने विस्तारका है इसलिए असंख्यातप्रदेशी है। वे प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं हैं किन्तु अखण्ड क्षेत्री हैं।

जीवद्रव्यका अन्यद्रव्यातिरिक्तत्व होनेपर भी अन्य द्रव्योंमें संस्थितपना—यह जीव अन्य सम्पूर्ण द्रव्योंसे भिन्न है। अनंतानंत जीव जो किसी भी जीवके अतिरिक्त हैं उन सबसे यह निराला है, क्योंकि उन अनंतानंत जीवोंका चैतन्य उनमें ही व्याप्त है। उनका उत्पाद-व्ययध्रौव्य उनमें ही होता है। उनमें कर्मका संचार बंधन आदिक उनमें ही है। उन समस्त अनंतानंत जीवोंसे यह विवक्षित जीव निराला है और समस्त पुद्गल अनंतानंत हैं उनसे भी निराला है। धर्म, अधर्म, आकाश और असंख्यात कालद्रव्य इनसे भी निराला है। यों यह जीव सर्व परद्रव्योंसे निराला है, फिर भी उन परद्रव्योंके बीच स्थित है। जीव कहाँ जायगा

जहाँ कि अन्य द्रव्य न हों, और केवल यह जीव ही रह सके ऐसा यहाँ कोई स्थान नहीं है। सिद्ध भी हो जाय यह जीव तो जहाँ सिद्ध भगवान विराजे हैं वहाँपर भी सर्वद्रव्य हैं। तो यह जीव सबसे निराला है फिर भी सबके बीचमें ही स्थित है। इस तरह जीवके स्वरूपका स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धश्चैकविधोपि यः ।

स्याद्द्विधा सोपि पर्यायान्मुक्तामुक्तप्रभेदतः ॥३३॥

स्वरूपतः एकविधत्व होनेपर पर्यायदृष्टिसे जीवद्रव्यका मुक्तामुक्तरूपमें विभाग—शुद्ध-नयकी अपेक्षासे यह जीव शुद्धस्वरूप है, एक रूप है। जैसे शुद्धनयकी दृष्टिमें केवल एक, पर अपेक्षारहित, पर उपाधिरहित स्वरूप मात्र द्रव्य देखा जाता है तो उस शुद्धनयकी दृष्टिमें यह जीवद्रव्य शुद्ध स्वरूप है, अर्थात् जो जीवमें स्वभाव है उस स्वभावरूप है। स्वभाव विकार, विडम्बनाके लिए नहीं होता, बरिक् स्वभावमें स्वभाव ही दृष्टगत होता है। परिणतिकी भी वहाँ अपेक्षा रहती है, अथवा परिणतिपर भी वहाँ दृष्टि नहीं है। ऐसी शुद्धनयकी दृष्टिमें यह जीव शुद्धस्वरूप है, एक रूप है, उसमें भेद कल्पना नहीं होती। और तभी इस दृष्टिमें जितने भी जीव हैं वे सब एक समान हैं। इसी एक समानको एक कह दिया है अन्य दार्शनिकोंने, क्योंकि समान अर्थमें भी एक शब्दका प्रयोग होता है, ऐसी व्याकरण और शब्दकोषकी विधि है। तो यों यह जीवद्रव्य एक रूप है, फिर भी पर्यायदृष्टिसे देखा जाय तो जीवकी समस्त पर्यायोंको संक्षेप करके बताया जा रहा है कि जीव दो प्रकारके हैं—मुक्त जीव और अमुक्त जीव। जो जीव कर्मबंधनसे छूट गए हैं, विकारभावोंसे छूट गए हैं, जो जीव पूर्ण शान्त हैं, आनंदमय हैं, केवल उस ही स्वरूपमात्र हैं, वे तो मुक्त कहलाते हैं और जो जीव कर्मबंधनसे युक्त हैं, शरीरादिकका संयोग है, सम्बंधमें है उन्हें कहते हैं अमुक्त जीव। निश्चय और व्यवहारका विषय क्या है? निश्चयका विषय है स्व, व्यवहारका विषय है पराश्रित भाव। निश्चयनय एक वस्तुको एकमें ही निरखता है और उसका स्वभाव भावको ही ग्रहण करता है। व्यवहारनय अशुद्ध अवस्थाको, परसंयोगको जो सभी अशुद्ध अवस्थामें सम्मिलित हो गए हैं उनका ग्रहण करता है, पर निमित्तसे होने वाले जो भाव हैं औपाधिक भाव, नैमित्तिक भाव उनको ग्रहण करने वाला व्यवहारनय है। तो निश्चयनयकी दृष्टिमें तो किसी प्रकारका भेद नहीं है। संसारी और मुक्त सभी जीवोंको एक रूप निरखा निश्चयदृष्टिने तो वहाँ संसारी और मुक्तका भेद क्यों दृष्टिमें नहीं पड़ा है? केवल स्वरूप इस दृष्टिमें है और उस स्वरूपदृष्टि से जीव एकरूप है, किन्तु व्यवहारनयसे जीव दो रूप हो गया है—एक संसारी, दूसरा मुक्त। जो उपाधिसहित आत्मा है वह संसारी है, जो निरुपाधि आत्मा है, वह मुक्त कहलाता है। यों अब प्रथम परिच्छेदमें एक द्रव्यके स्वरूपका वर्णन किया था। अब इस परिच्छेदमें जीव-



द्रव्यका प्रमुखतासे वर्णन चल रहा है। द्रव्यमें जीवके स्वरूपका अवधारण किया और निश्चयदृष्टिसे स्वरूपकी दृष्टिसे जीव एक ही प्रकारका है। अब व्यवहारनयके आलम्बनसे उस जीवके भेदोंका विवरण चल रहा है। तो प्रथम ही प्रथम जीवमें क्या भेद दृष्टगत हुए? तो ये भेद दृष्टगत हुए कोई जीव संसारी हैं और कोई मुक्त हैं।

बद्धो यथा स संसारी स्यादलब्ध स्वरूपवान् ।

मूर्च्छितोनादितोष्टाभिर्ज्ञानाद्यावृत्तिकर्मभिः ॥३४॥

**अमुक्त जीवके लक्षण**—इस गाथामें संसारी जीवका स्वरूप कहा गया है। जो आत्मा बद्ध है वह संसारी है। यह जीव कर्मोंसे बद्ध हो रहा है। यद्यपि कर्म मूर्तिक हैं, आत्मा अमूर्त है, आत्मामें कर्मका संयोग नहीं बन सकता और जैसे एक रस्सीका छोर दूसरी रस्सी के छोरसे बांध दिया जाता है, गाँठ लगा दी जाती है, इस तरहसे जीवने कर्मसे गाँठ भी नहीं लगायी है, किन्तु ऐसा ही यहाँ निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है कि वह जीव रागद्वेष भावरूप परिणामे तो उस निमित्तको पाकर कार्माणवर्गणायें स्वयं कर्मरूप हो जाती हैं और जीवके प्रदेशोंमें स्थित रहती हैं। प्रदेशमें स्थित रहनेका, एकत्रैत्रावगाही होनेका तो विरुसोपचयसे भी सम्बंध है। जो कार्माणवर्गणायें कर्मरूप नहीं हुई हैं किन्तु अभी अकर्मरूप हैं, ऐसी अनेक वर्गणायें भी इस जीवके एकत्रैत्रावगाही हैं। जिन्हें विरुसोपचय कहते हैं। जीवका एक भव से मरण होता है, दूसरे भवमें यह जीव जाता है तो विग्रह गतिमें भी जैसे बँधे हुए कर्म एक त्रैत्रावगाही होकर इस जीवके साथ जाते हैं इसी प्रकार न बँधे हुए विरुसोपचयरूप कार्माण स्कंध भी इस जीवके साथ जाते हैं, पर रागद्वेषादिक भावोंका निमित्त पाकर उन कार्माण वर्गणाओंमें ऐसी स्थिति आ गयी है कि वे कर्मरूप होकर बद्ध कहलाने लगते हैं। तो जो जीव कर्मसे बँधा है वह संसारी है। संसारी जीव अपने यथार्थस्वरूपको पाये हुए नहीं है। अर्थात् जीवका जो स्वरूप है वही मात्र व्यक्त हो, वहाँ आवरण न हो, उसकी विकृत दशा न हो, ऐसी स्थिति संसारमें नहीं है। यह जीव अनादिकालसे ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मोंसे मूर्च्छित हो रहा है। आत्मामें ज्ञान, दर्शन, शक्ति, आनंद, श्रद्धा, चारित्र आदिक अनंत गुण हैं और वे सब गुण इस संसार अवस्थामें इन कर्मोंके निमित्तसे ढके हुए हैं अथवा विकृत हो रहे हैं। इन अष्टकर्मोंमें मोहनीय कर्म एक प्रधान कर्म है, जिसके उदयसे जीवके श्रद्धा एवं चारित्र गुण विकृत हो जाते हैं। यह मूर्च्छित अथवा उन्मत्त हो जाता है। तो इस मोहनीय कर्मके उदयसे यह विपरीत स्वाद वाला बन जाता है। यह अपने विशुद्ध ज्ञानानंदका स्वाद नहीं ले सकता है, दर्शन मोहनीयके उदयमें मोहका अनुभव करता है, चारित्र मोहके उदय में रागद्वेषका अनुभव करता है, अपना जो शुद्ध ज्ञानानंदस्वरूप है उसका अनुभव नहीं कर सकता। इसी कारण संसारी आत्मा अपने यथार्थस्वरूपका अनुभव भी नहीं कर पाता। तो

जहाँ यह अष्टकर्मोंका बंधन है, मोहनीय कर्मका भी बंधन है, वहाँ इस जीवकी दयनीय स्थिति है। इस कर्मबंधनसे जो जीव मुक्त हो गए हैं वे पवित्र हैं, पूज्य हैं, उपासनीय हैं, उन्हें ही सिद्ध प्रभु कहते हैं। भक्त जन जो सिद्ध प्रभुकी उपासना करते हैं वे यही ध्यान रखते हैं कि जैसा इनका स्वरूप है वही मेरा स्वरूप है, मैं भी ऐसा शुद्ध ज्ञानानंदमय हूँ और इस तरह अपने स्वरूपके अनुभवके लिए प्रभुकी उपासना वह ज्ञानी करता है।

यथानादिः स जीवात्मा यथानादिश्च पुद्गलः ।

द्वयोर्बन्धोप्यनादिः स्यात् सम्बन्धो जीवकर्मणोः ॥३५॥

जीव, कर्म व उनके सम्बन्धकी अनादिता—ऊपर की गाथामें बताया गया है कि जीव और कर्मका अनादिसे सम्बन्ध है, उसीका विवरण यहां कर रहे हैं। जीव एक सत् पदार्थ है। वह अनादिकालसे है। जो भी सत् है वह अनादिसे ही है। किसी भी असत्का निर्माण नहीं होता अथवा जो है ही नहीं वह किसी भी प्रकार निष्पन्न नहीं होता। अतः जो है वह नियमसे अनादिसे है। तो यह जीव (आत्मा) अनादिसे है और ये पुद्गल भी अनादिसे है। पुद्गल भी सत् रूप हैं, पुद्गल भी किसी दिनसे निष्पन्न हुये हैं ऐसा नहीं है। वे भी अनादिसे हैं और इस प्रकारका बंध भी अनादिसे है। इस तरह जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादिकालसे चल रहा है। जीव अनादिसे है इसमें रंच भी सन्देह नहीं है क्योंकि वह सत् है। जो भी सत् होता है वह अनादिसे होता है, कर्म पुद्गल भी अनादिसे है, तो पुद्गलकी अनादिताका भी सन्देह नहीं है। क्योंकि वह सत् है। अब जीव और कर्मका बन्ध अनादिसे है—इस सम्बन्धमें विचार करते हैं। सो अगली गाथाओंमें इस सम्बन्धमें विचार किया जायगा कि जीव और कर्मका अनादि सम्बन्ध कैसे सिद्ध होता है? जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिसे नहीं है और किसी समयसे हो गया है। तो मोटे रूपसे तो यही ध्यान में आता कि सम्बन्ध न था तो जीव जीव ही था, जीव अपनी जगह, पुद्गल अपनी जगह अलग पड़े हुए थे। सभी शुद्ध थे, तो जो शुद्ध है उसमें फिर बंधकी अशुद्धता कैसे आ गई? उसका कारण सिद्ध करनेमें बहुत श्रम करना होगा और वह सब निष्फल होगा। तो मोटी दृष्टिसे जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि सिद्ध होता है उस ही को युक्तिरूपसे अनादि सिद्ध करनेके लिए आगे गाथा कहेंगे।

द्वयोरनादिसम्बन्धः कनकोपलसन्निभः ।

अन्यथा दोष एव स्यादितरेतरसंश्रयः ॥३६॥

दृष्टान्तपूर्वक जीव और कर्मके अनादि सम्बन्धका स्पष्टीकरण—जीव और कर्मका अनादि सम्बन्ध कनकोपलकी तरह है। कनकपाषाण कहते हैं पृथ्वीमें जहाँ सोनेकी खान होती है वहाँ जो जमीनसे निकलता है ऐसा वह पत्थर अथवा मिट्टी, वह कनकपाषाण है। तो

कनकपाषाणमें मिट्टी पत्थर कालिमा और स्वर्ण ये सब मिले हुए हैं। वहाँ ऐसा नहीं है कि स्वर्ण अलग था और पाषाण आदिक अलग थे, फिर वे मिलाये गए हों। उनमें सादि सम्बंध नहीं है इसी प्रकार जीव और कर्ममें सादि सम्बंध नहीं है कि जीव पहिले अलग था और कर्म अलग था फिर मिलाये गए हैं। यदि जीव और कर्मके सम्बंधको सादि मान लिया जाता है तो इससे दोनों बातें सिद्ध नहीं हो सकतीं और अन्योन्याश्रय दोष आयगा। कितने ही सम्बंध ऐसे देखे जाते हैं जो अनादि सम्बंध हैं। उनकी आदि मान ली जाय तो उन दोनों की सिद्धि नहीं हो सकती। जैसे बीज और वृक्षकी परम्परा अनादि है। बताओ पहिले बीज पैदा हुआ कि वृक्ष ? तो कोई वृक्ष ऐसा नहीं जो बीजसे न पैदा हो और कोई बीज ऐसा नहीं जो वृक्षसे न पैदा हो। तो वहाँ यह निर्णय देना कठिन है कि पहिले अमुक पैदा हुआ। ऐसे ही अनेक दृष्टान्त हैं जिनसे यह सिद्ध है कि सम्बंध कोई अनादि भी होता है। उस सम्बंधको भी यदि पर्यायदृष्टिसे देखा जाय तो प्रत्येक सम्बंध सादि होगा लेकिन उसकी परम्परा देखी जाय तो अनादि है। जैसे जीवने आज कर्म बाँधे तो आजका बाँधा हुआ कर्म है वह सम्बंध सादि है लेकिन जीव कर्मबंध वाला था ही नहीं पहिले और किसी समय बाँधा हो, ऐसा न मिलेगा। तो कर्मबंध परम्पर्या अनादिसे सम्बंध वाला है, उसको सादि नहीं कह सकते। यदि सादि माना जाय तो वहाँ अन्योन्याश्रय दोष होता है, उसी अन्योन्याश्रय दोषकी बात अगली गाथामें कह रहे हैं।

तद्यथा यदि निष्कर्मा जीवः प्रागेव तादृशः ।

बन्धाभावेथ शुद्धेपि बन्धश्चेन्नित्तिः कथम् ॥३७॥

**जीव और कर्मका अनादि सम्बंध न माननेपर अन्योन्याश्रय दोषका प्रसङ्ग—**यदि जीव पहिले निष्कर्मा माना जाय अर्थात् शुद्ध कर्मरहित केवल अपने स्वरूपमें ही रहने वाला अविचार, ऐसा निष्कर्मा माना जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि वह आत्मा तो शुद्ध ही था, अब उस शुद्ध आत्माके बंध कैसे बनेगा ? यदि शुद्ध आत्मामें भी बंध मान लिया जाता तो उसका मोक्ष किस प्रकार होगा ? यहाँ दो बातोंपर विचार किया गया है कि यदि जीव का और कर्मका सम्बंध सादि मान लिया जाता है तो इसका अर्थ यही तो हुआ कि कर्मरहित जीव था, फिर कर्मका सम्बंध हुआ, तभी तो सादि सम्बंध कह सकेंगे। तो जब जीव कर्मरहित था तो उस शुद्ध जीवमें, कर्मरहित जीवमें बंध कैसे बन जायगा ? तो बंध बिना कारण के कैसे हो सकता है ? कदाचित् मान लीजिए कि शुद्ध था तो भी बंध हो गया तो शुद्धमें भी जब बंध हो जाता है तो उसका निर्वाण कैसे होगा ? अथवा किसी तरह मान लो, निर्वाण हो गया तो निर्वाण होनेपर भी पूरा क्या पड़ेगा ? निर्वाण होनेपर यह शुद्ध हो गया यही तो बात बनेगी, पर जैसे पहिले शुद्ध था और कर्मबंध हो गया था और अब तपश्चरणा

आदिक विधिसे शुद्ध हो गया तो फिर भी कर्मबंध हो सकता है। तो ऐसे मोक्षसे आत्माका कुछ पूरा तो न पड़ेगा। इससे यह मानना चाहिये कि आत्माका कर्मके साथ जो बंध है वह अनादि बंध है, क्योंकि बन्ध होता है अशुद्ध अवस्थामें। यदि कर्मबंधसे पहिले आत्माको शुद्ध मान लिया जाता, कर्मरहित है और फिर उसके बंधकी कल्पना की जाय तो बंधकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि शुद्ध आत्मामें बंध कैसे हो? बंध तो अशुद्ध परिणामसे होता है। जीवमें रागादिक भाव जगे तब तो कर्मबंध हो, लेकिन मान रहे हो पहिले आत्माको शुद्ध तो कर्मबंध होगा? कर्मके बंध होनेमें तो अशुद्ध परिणामके निमित्त होनेकी आवश्यकता है। और आत्मा में रागादिक परिणाम हुए, इसके लिए पहिले कर्मबंधकी आवश्यकता है। तो पहिलेके कर्मोदयमें जीवके रागादिक भाव हुए और जीवके रागादिक भाव होनेपर कर्मबंध हुआ, किन्तु ऐसा मान नहीं रहे। जीवको शुद्ध मान रहे हो, क्योंकि सादि बंध माननेका हठ किया जा रहा तो ऐसे शुद्ध आत्मामें अशुद्धता आने लगे तो जो आत्मा शुद्ध हो गए वे भी तो अशुद्ध हो जायेंगे, और अशुद्ध हो गए तो बंध होगा, संसारी रहेगा, जन्ममरण करेंगे, फिर निर्वाणका कोई मूल्य ही न रहा, संसार और मोक्षका कोई अंतर ही न रहा। यों तो नवग्रैवेयकमें भी जीव जाता है, बड़े आरामसे रहता है, सुख लेश्या है, मंद कषाय है, बड़ी सातासे रहता है। कोई प्रवीचार नहीं है, तो एक निर्वाण जैसी अवस्था लग रही है, क्योंकि निर्वाण होने पर भी बंध मान लिया, तब ऐसे ही बहुत कुछ शान्ति होनेपर नवग्रैवेयकसे आखिर लौटना होता है, जन्ममरण करना होता है, तो अधिवसे अधिक इस आशय वालेका मोक्ष ग्रैवेयककी तरह हो जायगा, और इसीको बहुतसे लोग बैकुण्ठ कहा करते हैं। कंठी जगह ही तो ग्रैवेयक है, वही उनका मोक्ष है। पूर्ण शुद्ध वीतराग विज्ञान अवस्थाकी बात न आयगी, और आयगी तो फिर कभी अशुद्धता नहीं आती। ये सब बातें तब सिद्ध होंगी जब जीव और कर्मके सम्बंधको अनादि मान लिया जाता है। बंधरूप कार्यके लिए रागादिक अशुद्ध रूप कारणाकी आवश्यकता है, क्योंकि रागादिक परिणामका निमित्त हुए बिना वार्माणवर्गणात्रोंमें कर्मरूप अवस्था नहीं हो सकती और रागादिक परिणामके होनेके लिए पूर्वबद्ध कर्मकी आवश्यकता है, अर्थात् पूर्वबद्ध कर्मका विपाक होनेपर उसका निमित्त पाकर आत्मामें रागादिक अवस्थायें होती हैं। लेकिन अब तो शुद्ध माननेका हठ किया जा रहा तो यहाँ अन्योन्याश्रय दोष होता है अर्थात् जीव और कर्मका सम्बंध सादि माननेसे इतरेतराश्रय दोष होता है। उसमें न बंध ही सिद्ध होगा, न रागादिक ही सिद्ध होगा, न संसार ही सिद्ध होगा।

कर्मबन्धकी परम्परा न मानकर बंधको सादि माननेपर अहेतुक कर्मबन्धके विनाशकी अशक्यताका प्रसङ्ग—जीव और कर्मका सादि सम्बन्ध माननेमें दूसरा दोष यह आता है, सो मुनिये—जीव और कर्मका सम्बंध सादि मान लेनेसे यह प्रश्न तो खड़ा ही है कि बन्ध जब

सादि है तो उससे पहिले आत्मा शुद्ध था, सो शुद्ध आत्मामें बंध नहीं हो सकता. क्योंकि बिना कारणके कार्य नहीं होता। जैसा निमित्त पाकर जो कार्य हुआ करता है वह वैसे ही होता है। यद्यपि होता है उपादानमें, मगर निमित्तनैमित्तिक भावकी जो विधि है उसका अतिक्रमण करके कोई विभाव नहीं बन पाता, तब आत्माको शुद्ध मान लेनेसे फिर कर्मबन्ध नहीं होगा। यदि वहाँ यह मान लिया जाता कि शुद्ध था आत्मा, फिर भी कर्मबंध हो गया, कर्मबन्धका कारण रागादिकभाव नहीं मिला फिर भी कर्मबन्ध हो गया क्योंकि कर्मकी पर्याय कर्मसे होती है, हो गयी। तो इस तरह यदि अहेतुक कर्मबन्ध हो जाय अर्थात् बिना रागद्वेष रूप परिणामके वह शुद्ध आत्मा भी बंध करने लगे तब फिर यह बतलाओ कि अहेतुक बंध किस तरह छूट सकता है? जब यह मान लिया जाता कि कर्मबन्ध सहेतुक है अर्थात् आत्मा के रागद्वेषादिक परिणामोंका निमित्त पाकर कर्मबन्ध होता है तो ऐसी मान्यतासे बात बन जाती है कि जब रागद्वेषादिक कारण न रहेंगे तो कर्मबन्ध टल जायगा। परन्तु बिना रागद्वेष निमित्तके जब कर्मबंध मान लिया गया तो कर्मबंध हटने का फिर कोई अवसर न होगा। तब मुक्तिकी अवस्था प्राप्त ही नहीं हो सकती। यों जीव और कर्मका सम्बन्ध सादि मान लेनेके कारण अनेक दोष आते हैं।

अथ चेतुद्गलः शुद्धः सर्वतः प्रागनादितः।

हेतोर्विना यथा ज्ञानं तथा क्रोधादिरात्मनः ॥३८॥

पुद्गलको अनादिशुद्ध माननेमें ज्ञानकी भांति क्रोधादिके भी स्वाभाविकपना अनेका प्रसङ्ग—जैसे ऊपर यह विचार किया गया था कि जीवको निष्कर्मा मान लिया जाता है, शुद्ध मान लेने पर वहाँ कर्मबन्ध नहीं बनता अथवा बने तो फिर कर्मबंध हटनेका अवसर नहीं आ सकता। इसी प्रकार पुद्गलके सम्बन्धमें यह चिन्तन किया जा रहा है कि यदि कोई यह कह दे कि पुद्गल अनादिसे शुद्ध ही रहता है तो जैसे आत्माको शुद्ध अनादिसे मानने वाले के दोष आता है इसी प्रकार पुद्गलको भी सदा शुद्ध माननेमें यह दोष आता है कि फिर आत्माके साथ कर्मका सम्बन्ध नहीं बन सकता। बिना कारण जिस प्रकार आत्मा का ज्ञान स्वाभाविक गुण है फिर तो क्रोधादिक भी आत्माके स्वाभाविक गुण बन जायेंगे। आत्मामें जो क्रोधादिक होते हैं उनका निमित्त है पुद्गलकर्मका उदय। पुद्गल कर्म रूप अशुद्धपर्याय निमित्त जब न रहा तो क्रोधादिक भाव स्वभाव बन बैठेंगे, और जब अशुद्ध कर्मपर्यायको निमित्त माना जाय क्रोधादिक भाव होनेमें तो क्रोधादिक आत्माके स्वभाव न बनेंगे। औपाधिक भाव हो गए, परन्तु जब पुद्गलको शुद्ध मान लेंगे तो आत्मामें विकारोंका निमित्त कुछ ठहरेगा नहीं। ऐसी हालतमें क्रोधादिकका हेतु आत्मा ही पड़ेगा अर्थात् क्रोधादिकका उपादान जैसे आत्मा है ऐसे ही क्रोधादिक का निमित्त भी आत्मा ही रहा। फिर

माननेपर गुणीका अभाव ही जाना न्यायसंगत बात है। तो जब क्रोधादिक मिट गए तो आत्मा भी मिट जायगा। क्रोधादिक मिट जाते हैं यह बात प्रमाण सिद्ध है। यह भी यहाँ देखा जा रहा कि किसीमें क्रोधादिक कम हैं, किसीमें क्रोधादिक और भी कम हैं, और होते होते ऐसी अवस्था आ जाती कि जहाँ क्रोधादिक नहीं रहते हैं। सिद्धान्तमें बताया है कि १२वें गुणस्थानमें किसी भी प्रकारके कषाय नहीं हैं, तो ऐसा देखा जा रहा है कि क्रोधादिक कहीं नहीं रहते हैं तो न रहें, वहाँ फिर यह मानना होगा कि आत्मा भी न रहा, क्योंकि क्रोधादिकको तो अब आत्माने गुण अथवा स्वभाव मान लिया। यों पुद्गलको अनादिसे शुद्ध माननेपर अनेक दोष आते हैं।

तत्सिद्धः सिद्धसम्बन्धो जीवकर्मोभयोर्मिथः ।

सादिसिद्धेरसिद्धत्वात् असत्संदृष्टितश्च तत् ॥४०॥

जीव और कर्मके बन्धकी अनादिपरम्पराका निर्णय—अब इस गाथामें उक्त समस्त कथनका सारांश कह रहे हैं। उन सब दोषोंका आना न हो, यह यदि इष्ट है तो मानना चाहिए कि जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि प्रसिद्ध है, क्योंकि जीव और कर्मका सादि संबंध सिद्ध नहीं हो पा रहा है। पहिले जो शंका समाधान हुए हैं उनमें यह बात स्पष्ट रूपसे कही जा चुकी है कि जीव और कर्ममें सादि सम्बन्ध माननेपर अन्योन्याश्रय आदिक अनेक दोष आते हैं। फिर दूसरी बात यह है कि सादि सम्बन्ध माननेका तो कोई दृष्टान्त भी तो नहीं मिलता। जीव और कर्मका सादि सम्बन्ध युक्त मान लिया जाय तो इसकी सिद्धिमें कोई उदाहरण नहीं है। बल्कि जीव और कर्मका अनादि सम्बन्ध सिद्ध करनेके लिए अनेक दृष्टान्त हैं। पिता और पुत्रके सम्बन्धकी परम्परा अनादिसे है। पिता किसी पितासे हुआ, वह पिता अपने पितासे हुआ। अब कोई पिता क्या ऐसा माना जा सकता है कि जो आकाशसे ही उतरा हो, जिसका कोई जनक न हो? वहाँ जैसे सादिकी सम्भावना नहीं। बीज वृक्षकी परम्परामें सादिकी सम्भावना नहीं, कनकपाषाणमें सादिकी सम्भावना नहीं, इसी प्रकार जीव और कर्मके सम्बन्ध में सादि सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।

जीवस्याशुद्धरागादिभावानां कर्मकरणम् ।

कर्मणस्तस्य रागादिभावाः प्रत्युपकारिवत् ॥४१॥

जीवाशुद्धिके व कर्मबन्धके कारणका निर्देश—इस ग्रंथराजके पहिले अध्यायमें द्रव्य का सामान्य रूपसे स्वरूप बताया गया। जिस स्वरूपका वस्तुमात्रसे सम्बन्ध था और उसके परिज्ञानकी विधियाँ भी सामान्यतया कही जिन पद्धतियोंसे सभी वस्तुओंका परिज्ञान होता है। अब इस द्वितीय अध्यायमें प्रारम्भमें दो विभाग किए गए—जीव और अजीव। उनमेंसे जीवद्रव्यका वर्णन किया जा रहा है। हम जीव हैं, हमारी क्या स्थिति है, हमारी क्या शक्ति

है, हम कहाँ पड़े हैं, हमको क्या होना चाहिए ? ये सब बातें स्पष्ट हों, इस कारणसे विधि-पूर्वक जीवकी पहिली दशाका वर्णन किया जा रहा है। जीव इस समय अशुद्ध स्थितिमें है। जीवका सत्य स्वरूप क्या है, यह बात प्रथम अध्यायमें भी बता दी गई है, पर वर्तमानमें पर्याय कैसी हो रही है, इसका विवरण इस प्रसंगमें चल रहा है। जीव और कर्मका अनादि कालसे सम्बंध है और उस सम्बंधमें परस्पर एक दूसरेका कारण है। जीवके रागादिक भाव कर्मबंधके कारण हैं। कर्मबंध कर्मादय जीवके रागभावका कारण है और यह परम्परा अनादि से चली आयी है। यदि अनादि परम्परा नहीं मानी जाती अर्थात् जीव और कर्मका सम्बंध सादि मान लिया जाता है तो सादि माननेका अर्थ यह है कि पहिले जीव शुद्ध था तो शुद्ध जीवमें कर्म कैसे आ जायें ? और शुद्ध जीवमें भी कर्म आ सकते हैं तो तपश्चरण आदिक करके कभी यह जीव मुक्त भी हो जाय तो भी कर्म आ जाने चाहिए। इसी प्रकार शुद्ध पुद्गल जीवके कैसे बंध सकेगा ? अथवा शुद्ध पुद्गल जीवके रागका कारण कैसे बन जायगा ? यदि शुद्ध पुद्गल जीवके रागका कारण बन जाय तब तो मुक्तात्माके भी कभी राग हो बैठेगा, इस कारण जीव और कर्मका सम्बंध अनादि मानना ही युक्त है। अब बताया गया था कि कर्मबंध होता है जीवकी अशुद्धताका निमित्त पाकर। इस गाथामें यह बता रहे हैं कि उस जीवकी अशुद्धताका कारण क्या है ? जीवके जो अशुद्ध रागादिक भाव होते हैं उसका कारण है कर्म। और कर्म जो कर्मरूप बन गया है उसका कारण है रागादिक भाव। मानो इसमें परस्पर प्रत्युपकार हो रहा है।

**जीवाशुद्धत्व व कर्मबन्धमें परस्पर प्रत्युपकारका चित्रण**—जीवके रागादिक भाव कर्मका कुल बढ़ानेमें कारण बन गए हैं और कर्मोंका उदय जीवके रागादिक भावोंको आबाद बनाये रहनेके कारण बन रहे हैं। तो इसके मायने परस्पर प्रत्युपकार है। यहाँ यदि कोई यह जिज्ञासा करे कि ऐसा प्रत्युपकार किस कामका कि जिसमें जीव भी बरबाद हो रहे और कर्म पुद्गल भी बरबाद हो रहे ? पुद्गल भी सर्वथा एक अवस्थामें नहीं रह सकते, वे भी नाना प्रकारकी स्थितियोंमें आयेंगे, यह प्रत्युपकार कैसे ? तो सुनो—यहाँ व्यवहारमें भी जो परस्परमें लोग प्रत्युपकार करते हैं वह भी तो ऐसा ही है। एकने दूसरेको किसी विषयका सेवन करा दिया, एकने दूसरेको धन दिला दिया, एकने दूसरेकी मदद कर दिया, यह जो परस्परमें लोग प्रत्युपकार करते हैं वह प्रत्युपकार भी बेढंगा है, ऐसे उपकारी जीव कहाँ हैं कि जो जीवके शुद्ध रत्नत्रयमें स्थित करानेके कारणभूत बनते हों अथवा बनें तो वहाँ उपकार ही नहीं मानते। प्रत्येक जीवमें अपनी-अपनी योग्यतासे अपने-अपने भाव प्रकट होते हैं, वे ज्ञानी संत जरा भी उपकार नहीं मानते कि मैंने दूसरेका उपकार किया, क्योंकि उनकी यह श्रद्धा है कि कोई पपार्थ किसी दूसरे पदार्थकी परिणति नहीं करता। खैर, यहाँ प्रसंग

यह चल रहा है कि जीव और कर्म इनमें परस्पर प्रत्युपकारकी तरह निमित्तनैमित्तिक भाव का सम्बंध है और यह सम्बंध अनादिसे चला आ रहा है। जैसे पुत्र किसी पितासे हुआ, वह पिता किसी अन्य पितासे हुआ, वह भी किसी अन्य पितासे हुआ, इस तरहसे प्रत्येक पूर्व पितासे होते आये हैं। वहां क्या यह कल्पना उठाई जा सकती है कि कोई पुरुष ऐसा होगा जो अपने पितासे न हुआ हो, यों ही आसमानसे टपक गया हो? ऐसा तो नहीं होता। यहां जन्म जनकका सम्बंध होनेपर भी जैसे ऐसा विदित हो रहा कि यह तो सादि सम्बंध है, फिर भी उसकी परम्परा अनादि है। यद्यपि जीव और कर्मका सम्बंध अनादि नहीं है, सादि ही होता है, किसी कर्मका बंध किया तो उस कालसे ही तो बंध हुआ। जीवमें कोई रागादिक भाव हुए तो उस ही कालमें तो हुए, पहिले नहीं हुए, तो जीव और कर्मका सम्बंध सादि है, मगर सम्बंध ऐसे होते चले आये हैं ऐसी परम्परा अनादि है और उस अनादि परम्परासे यह जीव विभाव और कर्मबंध ये परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावसे कार्य कारण भाव बनते चले आये हैं।

पूर्वकर्मोदयाद्भावो भावात्प्रत्यग्रसंचयः ।

तस्य पाकात्पुनर्भावो भावाद्बन्धः पुनस्ततः ॥४२॥

एवं सन्तानतोऽनादिः सम्बन्धो जीवकर्मणो ।

संसारः स च दुर्मोच्यो विना सम्यग्दृगादिना ॥४३॥

जीवकी अशुद्धताका विवरण—उक्त श्लोकमें जो परस्पर प्रत्युपकारकी बात कही गई है जीव और कर्मके सम्बन्धमें, उसीका स्पष्टीकरण यहाँ दो श्लोकोंमें किया गया है। पहिले बाँधे हुए जो कर्म हैं उनके उदयसे रागादिक भाव होते हैं और रागादिक भावके होने से नवीन कर्मोंका संचय होता है, फिर जब इन बाँधे हुए नवीन कर्मोंका उदय होगा तो जीव में रागादिक भाव होंगे और उन जीवोंके रागादिक भावोंसे फिर कर्मोंका बंध होगा। इस तरह संतानकी अपेक्षासे जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि है। वर्तमानमें जो जीवमें विकार हो रहे हैं उसका कारण है पूर्वबद्ध कर्मका उदय। पूर्वमें जो ये कर्म बाँधे हैं उसका कारण है पूर्वमें हुए रागादिक विभाव। उन रागादिक विभावोंका कारण है पूर्वबद्ध कर्मका उदय। इस तरहसे प्रत्येकके कारण इस तरहसे होते आये हैं। अब वहाँ कोई क्या यह सम्भावना कर सकता कि सबसे पहिले क्या था? क्या जीवमें रागादिक भाव थे जिससे कर्म बाँधे, फिर रागादिक भाव हुए और यह परम्परा बनी? अथवा सबसे पहिले कर्मबन्ध था जिसके उदय में रागादिक भाव हुए और कर्मबन्ध हुआ, यह परम्परा बनी। कुछ भी बात कही नहीं जा सकती कि सबसे पहिले क्या था? जीवकी अशुद्धता थी या कर्मका बंध था। इसकी यों अनादि परम्परा चली आयी है। इस तरह जीव और कर्मका सम्बंध अनादि है और यही



संसार है, जीव और कर्मका बंधन है, और उस प्रसंगमें जीवके विकल्पभाव हो रहे हैं, बस यही तो संसार है ।

संसारसंकट और रत्नत्रय बिना संसारसंकटसे निवृत्तिकी असंभवता—हम आपपर यदि कोई विपत्ति है तो यही है कि विकल्प उत्पन्न होते हैं जिन विकल्पोंके कारण हम अपने स्वरूपकी दृष्टि नहीं रख पाते । स्वरूपकी दृष्टि रहे तो यही आनंदका धाम है । यहाँ ही आनंद उमड़ता है और उस आनंदसे ही तृप्त होनेका नाम वास्तविक तृप्ति है । यही जीवका साथी है, शरण है, यही मात्र सारभूत है, उसकी सुघ तो नहीं रह पाती । होता क्या है ? अनेक प्रकारके विकल्पजाल यही हम आपपर संकट हैं । हम आपको इस मनुष्यभवमें आकर यही संकट मिटानेका उपाय बनाना है । यही संसार है और यह संसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यभाव आये बिना दूर नहीं हो सकता । जीवका जो यह मिथ्यादर्शन, ज्ञान चारित्र्यका परिणामन है बस यही संसार है और उसका प्रतिपक्षी है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य । एक बारमें भाव एक किस्मका होगा या तो मिथ्यादर्शन ज्ञान आचरण वाला होगा या सम्यग्दर्शन, ज्ञान आचरण वाला होगा । इस जीवमें मिथ्यात्व वाला भाव अनादि परम्परासे चला आया है । किसी समय इसका विनाश भी हुआ, विनाश न कहे किन्तु उपशम अथवा क्षयोपशम हुआ तो कारणवश फिर यह मिथ्यात्व भाव उखड़ पड़ा, तो मिथ्यात्व भावका क्षय अब तक नहीं हो पाया । उसका क्षय होनेके बाद अर्थात् मिथ्यात्व भाव जिस कर्म प्रकृतिके उदयका साथ पाकर होता है वे कर्म प्रकृतियाँ नष्ट हो जायें तो फिर कभी मिथ्यात्वभाव बन नहीं सकता । हम आपका उपकारी भाव तो यह रत्नत्रय भाव है । यह रत्नत्रय भाव बने और इस अनादिसे विमुक्त किन्तु निजमें प्रकाशमान इस भगवान् आत्माके साक्षात् दर्शन हुआ करें, इभसे बढ़कर इस आत्माकी विभूति और कुछ नहीं है । जो लोग पुण्योदयमें पायी हुई बाह्यविभूतिमें अटक गए हैं, वहाँ ही जिनके विकल्प बने हुए हैं, उस ही वैभवसे जो अपनेको सुखी समझ रहे हैं उनपर तो बड़ा अंधकार है, वे निरन्तर आकुलित हैं, उन्हें तृप्त होनेका मार्ग ही नहीं मिल पा रहा है । वे तो बरबादीके ही साधन हैं । विभूति तो आत्माका जो शुद्ध स्वरूप है उस ज्ञानमात्र भावका अनुभवन होना यही वास्तविक विभूति है और इस ही ज्ञानानुभूतिमें सम्यक्त्व रहता है । यह ज्ञानानुभूति बनी रहे इसीका नाम है चारित्र्य । तो यों दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य हुए बिना इस जीवके ये संसारभाव दुर्मोच्च ही हो रहे हैं ।

न केवलं प्रदेशानां बन्धः सम्बन्धमात्रतः ।

सोपि भावैरशुद्धैः स्यात्सापेक्षस्तद्द्वयोरिति ॥४४॥

जीव और कर्ममें गाढ़ बन्धनका निर्देशन—अब इस गाथामें यह बता रहे हैं कि जीव

का और कर्म प्रदेशका जो बंध है उस सम्बंधमात्र वाला बंध नहीं है। जैसे कि चौकी और पुस्तकका केवल संयोग है, इस तरहसे जीव और कर्मका केवल संयोग हो ऐसा संयोग (बंध) नहीं है किन्तु इस प्रकारका बंध है कि जिससे जीव भी अशुद्ध बन जाता है, कर्म भी अशुद्ध बन जाते हैं। आत्मा और कर्मका बंध केवल संयोग मात्र जैसा नहीं है किन्तु वह अशुद्ध जीव के आधारसे है। उन दोनोंमें बंधकी सापेक्षता है। जैसे कि दो सूखी ईंटोंका संयोग हो जाय वह भी एक सम्बंध है और सीमेंट लगाकर उन ईंटोंका सम्बंध कर दिया जाय वह भी एक सम्बंध है। इन दोनों सम्बंधोंमें अन्तर है। सीमेंट चूने वाले सम्बंधसे अब वे ईंटें अलग नहीं हो रही हैं जब कि दो यों ही मिली हुई ईंटें जो ईंटें हैं उनमें कोई बन्धन नहीं है। तो जीव और कर्मका जो सम्बंध हुआ है वह बंधन वाला सम्बंध है। केवल संयोगके पास आया हो इतना मात्र बन्धन नहीं है। जीव और कर्मका बन्धन किस प्रकारका है, इसकी सही पद्धति बताने वाला कोई दृष्टान्त ही नहीं है, फिर भी मोटे दृष्टान्तसे कुछ बन्धन जैसी बात समझा दी जाती है। दूध और जलका परस्पर सम्बंध जब हो जाता है तो वहाँ वर्तनमें ऐसा विभाग नहीं रह पाता कि देखो इस गिलासमें इतने हिस्सेमें दूध है और इतने हिस्सेमें जल है। किन्तु दूध और पानी परस्पर ऐसा घुल-मिल जाते हैं कि वे उस समय दूर नहीं किये जा सकते। भले ही उसे पाकर प्रयोग द्वारा पानीको उड़ा दिया जाय, लेकिन जब तक दूध और पानीका सम्बंध है तब तक वे एक दूसरेसे हटे हुए नहीं हैं। कोई पुरुष उस दूध और पानी मिले हुए दूधको पिये तो उसका स्वाद भी अलग नहीं मालूम होता। तो जैसे जल और दूधका सम्बंध है इस तरहसे ही समझ लीजिए कि जीव और कर्मका सम्बंध है। जीव और कर्मका सम्बंध होता है तो वहाँ देखो एकक्षेत्रावगाह रूप हो जाते हैं। जीवके प्रत्येक प्रदेशमें कर्म समाये हुए हैं, ऐसा नहीं है कि जीवके कुछ प्रदेश कर्मसे रिक्त हों। उनमें कर्मबन्धन है तो एकक्षेत्रावगाह बन्धन है। कर्मबन्धनमें और जीवके अशुद्ध भावमें परस्परापेक्षा है। जीवके अशुद्ध भावके कारण कर्मबन्धन हो रहा है। कर्मोदयके कारण जीवमें विभाव हो रहे, इस प्रकारका घनिष्ठ सम्बंध जीव और कर्ममें हो रहा है।

अयस्कान्तोपलाकृष्ट सूचीवत्तद्द्वयोः पृथक् ।

अस्ति शक्तिविभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी ॥४५॥

बन्धके कारणभूत विभाव शक्तिका निर्देश—इस श्लोकमें यह बताया जा रहा है कि जीव और कर्मके इस प्रकार बंध होनेका मूल कारण क्या बना ? इस प्रसंगमें जीव और कर्म के बन्धनकी बात कही जा रही है। इस समय जीव और कर्ममें एकक्षेत्रावगाह बन्धन है, एक दूसरेके पराधीन हैं, जीवकी अशुद्ध अवस्था भी होती है यही संसार है, यही दुःखका हेतु है। पर्यायदृष्टिमें आत्मस्थिति ऐसी हो रही है। भले ही द्रव्यदृष्टि जब इस ओर करते हैं तो

उपयोग ही नहीं जा रहा है, वहाँ जीवके सहज शुद्ध स्वरूपको निरखा जा रहा है। इस जीव के उस सहज सत्त्वके स्वरूपमें किसी निमित्त किसी नैमित्तिक भाव या एक क्षेत्रावगाह बंध इन सबकी कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं है। यह द्रव्यदृष्टिके विलासके प्रसंगकी बात यहाँ कही जा रही है। वर्तमान पर्यायमें इस जीवपर गुजर क्या रहा है उसका विवरण किया जा रहा है। जीवकी अशुद्ध अवस्थाका निमित्त पाकर पौद्गलिक कर्म कर्मरूप बंध गए और इन कर्मोंके विपाकका निमित्त पाकर जीवमें रागादिक भाव हो रहे हैं ऐसा होनेका मूल कारण क्या है वह बताया जा रहा है कि जीव और पुद्गलकी वैभावकी निमित्त शक्ति है जो बंधकी अधिकारिणी बन रही है। जैसे चुम्बक पत्थरमें सूई या छोटे लोहेको खींचनेकी शक्ति है और सूई आदिक छोटे लोहमें खिंच जानेकी शक्ति है। यह चुम्बकशक्तिके अंशोंकी बात है कि वह विशाल लोहपिण्डको न खींच सके, मगर खींचनेकी शक्ति तब भी कहलाती है तो जैसे चुम्बक में खींचनेकी शक्ति है और लोहेमें खिंच जानेकी शक्ति है तो शक्ति है ना, तो चुम्बककी भाँति जीव और पुद्गल दोनोंमें वैभाव नामकी एक शक्ति है जिससे दोनोंमें परस्पर बंध हो जाता है। यहाँ निमित्तनैमित्तिक भावसे सोचा जाय तो ऐसा देखा जाता है कि चुम्बकका सन्निधान पाकर लोह चुम्बकके पास जाता है, इसीको कहते हैं कि चुम्बकमें खींचनेकी शक्ति है और लोहेमें खिंच जानेकी शक्ति है। कार्य देख करके शक्तिका अनुमान किया जाता है। चुम्बकके आगे चौकी तो नहीं खिंच जाती। उससे यह कहा जायगा कि चुम्बकका सन्निधान पाकर लोहेमें खिंच जानेकी शक्ति है, तो इससे यह सिद्ध है कि चुम्बकमें उस प्रकारकी विशेषता है, ऐसे ही द्रव्योंमें से केवल जीव और पुद्गल विभावरूप परिणमते हैं, धर्मादिक चार द्रव्य नहीं। उससे सिद्ध है कि जीव और पुद्गलमें कोई वैभावकी शक्ति है जो बन्धकी अधिकारिणी बन रही है।

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो भावद्रव्योभयात्मकः ।

प्रत्येकं तद्द्रव्यं यावत्तृतीये द्वन्द्वजः क्रमात् ॥४६॥

बन्धकी त्रिविधता—बंध ३ प्रकारका होता है—भावबंध, द्रव्यबंध और उभयबंध। इनमें से भावबंध और द्रव्यबंध ये तो अलग-अलग एक-एक हैं, किन्तु उभयबंध बंधज है याने जीव और पुद्गलके होने वाले मेलसे होता है। बन्धकी व्याख्या है—दो पदार्थोंमें एकत्व बुद्धि होनेका जो कारण हो ऐसा जो बन्ध विशेष है उसका नाम बन्ध है। बन्ध शब्द ही यह बात ध्वनित करता है कि दो चीजोंका एकमेक हो गया है इसीको ही बन्ध कहते हैं। जीव और पुद्गल इन दो का मेल हुआ है। दोनोंका मेल हुआ है उभयबन्ध बन गया किन्तु भावबन्धमें किन दो का मेल हुआ है और मेल बिना बन्ध होता नहीं। द्रव्य बन्धमें किन दो का मेल है? साथ ही यह भी बात समझनी है कि भावबन्धमें किसी दूसरेका मेल

न बताना । अगर दूसरे पदार्थका मेल बताया तो उभय बन्ध बन जायगा । इसी तरह द्रव्य-बन्धमें भी किसी दूसरे पदार्थका मेल न बताना अन्यथा वह भी उभय बन जायगा । यहाँ तीन दृष्टियाँ हैं । भाव बन्धमें भी दो का मेल है मगर किसी दूसरे द्रव्यका नहीं । द्रव्यबन्ध में भी मेल दो का है पर किसी अन्यका नहीं । उभयबन्धमें अवश्य विजातीय दो द्रव्योंका मेल है—जीव और पुद्गल । अब इस दृष्टिसे सोचें कि भावबन्धमें भी दो तत्त्व हैं—जिनका मेल हुआ है । अब यहाँ यह समझना होगा कि भावबन्ध कहलाता है आत्मामें रागादिक भावोंका आना । तो यहाँ आत्माका स्वरूप समझना होगा । जो ही आत्मा है सो विभाव नहीं है और जो ही विभाव है सो आत्मा नहीं है । आत्मा शाश्वत है, अपनी शुद्ध अनन्त शक्तियोंका पिण्ड है और विभाव रागादिक ये औपाधिक हैं, किसी समय आये हैं, उपाधिके दूर हो जानेपर ये भी दूर हो जायेंगे । अब उस आत्मामें जो आत्मा शाश्वत है, अपनी अनन्त शक्तियोंका स्वरूप है उसमें यह विभावकी झलक है तो विभावोंका यहाँ बन्धन हो गया है । जो शुद्ध अनन्तशक्त्यात्मक आत्मा है उसमें विभावोंका जो यह बन्धन बन बैठा है उस ही का नाम भावबंध है, इसी तरह द्रव्यबंधमें भी जो परमाणु परमाणु करके अनेक अनेक पदार्थ हैं उनकी कर्मरूप पर्याय होते हुए जो मेल बना वह द्रव्य बंध है । उस द्रव्य बंधमें परस्पर कार्माणस्कोंका बन्धन है, यह द्रव्यबंध हुआ और उभयबंध तो स्पष्ट ही विजातीय दो पदार्थों का बंध कहा गया है ।

रागात्मा भावबन्धः स जीवबन्ध इति स्मृतः ।

द्रव्यं पौद्गलिकः पिण्डो बन्धस्तच्छक्तितरेव वा ॥४७॥

भावबन्ध और द्रव्यबन्धका स्वरूप—अब यहाँ भावबंध और द्रव्यबंधका स्वरूप बताया जा रहा है । भावबंध तो रागात्मक परिणाम है, जीवका जो रागादिमान परिणाम है उसे भाव-बंध कहते हैं अर्थात् आत्मामें विभावोंका बंधन हो रहा है । आत्मा विभावोंसे जकड़ा हुआ है । बंधमें यह बात तो देखी जाती है कि परतंत्रता हो गयी । बंधन परतंत्रताको सिद्ध करने वाला है । भावबंधमें क्या हुआ ? आत्मा विभावोंसे परतंत्र हो गया, आत्मा पराधीन हो गया, रागद्वेष विकल्पादिकके वशमें यह भगवान आत्मा पड़ा हुआ है, इससे विकट बंध और क्या हो सकता है ? स्वभावमय आत्मामें स्वभावका विकास न रहकर विभावका बंधन बन गया है । यही जीवका भावबंधन कहलाता है । द्रव्यबंध पौद्गलिक पिण्डका बंध है । उसमें जो बंधनेकी शक्ति है उस शक्तिका यहाँ व्यञ्जन हुआ है, वह द्रव्यबंध कहलाता है । यों भावबंध स्वतंत्र है अर्थात् विजातीय दो द्रव्योंका मेल यहाँ नहीं निरखा गया है । द्रव्यबंध भी स्वतंत्र है अर्थात् यहाँ विजातीय दो द्रव्योंका मेल नहीं निरखा गया है । इस तरह भाव-बंध और द्रव्यबंधका स्वरूप कहकर उभयबंधका स्वरूप कहते हैं ।

इतरेतर बन्धश्च देशानां तद्द्वयोर्मिथः ।

बन्ध्यबन्धकभावः स्याद्भावबन्धनिमित्ततः ॥४८॥

**उभयबन्धका स्वरूप—**जीवका और पुद्गलकर्मका परस्परमें जो बंधन है उसे उभय-बंध कहते हैं । भावबंधके निमित्तसे पुद्गलकर्म और जीवके प्रदेशका जो परस्परमें बंधबंधक भाव हो गया है, एक क्षेत्रावगाह एक रूपसे अथवा बंधनरूपसे जो मिलान हुआ है उसको बंधन कहते हैं । आत्मप्रदेश तो जीवद्रव्यकी चीज हुई और कार्माण वर्गणायें पौद्गलिक चीज हुई । इन दोनोंमें बंध हुआ है वह एक क्षेत्रावगाहमात्र नहीं । तो विश्रसोपचय साथ भी है । विश्रसोपचयके साथ जीवका बंध नहीं माना गया है । पुद्गल कर्म अपने शुद्ध स्वरूपको छोड़ दे और कर्मरूपमें आ जाय और जीव अपने शुद्धस्वरूपको छोड़ दे और एक मूर्तरूपके ढंगमें आ जाय, यह जीव और कर्मका परस्परमें बंध है । यहाँ बंधक तो है जीव और बंध है पुद्गल कर्म अर्थात् पुद्गलकर्म तो बंधने योग्य चीज है और जीवभाव उसके बाँधने वाला है, इस तरह परस्परमें बंधबंधक भाव हो जानेका नाम उभय बंध है । उभय बंधमें निमित्तनैमित्तिक भावकी पद्धति आनेकी मुख्यता है । वैसे तो जीव अमूर्त है, पुद्गलकर्म मूर्त है । तो अमूर्त जीवमें पुद्गल पुद्गलमूर्तका बंधन कैसा ? यह शंका स्वयं अभी आगेकी जायगी । यहाँ इसमें केवल यह जानना कि एक तो जीव संसार अवस्थामें मूर्त बन रहा है, उपचारसे मूर्त सही किन्तु उपचारपनेका शुद्ध प्रकटपना नहीं है अतएव ऐसे मूर्त आत्माको मूर्त पुद्गलकर्म बन्ध हो गया फिर भी वास्तवमें जीव मूर्त नहीं हुआ, अमूर्त ही है तो उसके साथ पुद्गलकर्मका जो बंध है वह एक निमित्तनैमित्तिक भावकी विशेषता आनेरूप बंध है । अब यहाँ जीव पुद्गल एकत्र इस तरह हो गए कि जब पुद्गलकर्मका उदय आयगा तो जीवमें जो रागादिक भाव होते हैं तो पुद्गलकर्मका बन्ध होता है, ऐसा जो परस्परका निमित्तनैमित्तिकपना है जो कि अनिवार्य है ऐसी विशेषता आनेका नाम बंध है ।

नाप्यसिद्धं स्वतस्सिद्धेरस्तित्वं जीवकर्मणोः ।

स्वानुभवगर्भयुक्तेर्वा समक्षोपलब्धितः ॥४९॥

**जीव और कर्मकी स्वतःसिद्धता—**जीव और कर्म इनकी सत्ता कोई स्वीकार नहीं करता है । ऐसा जिज्ञासु मनमें यह शंका रख सकता है कि जीव भी कुछ नहीं है, कर्म भी कुछ नहीं है, फिर उनका बंध बताना और उनकी चर्चा करना व्यर्थ है । ऐसा जीव और कर्म के अस्तित्वके विषयमें जिसे संदेह है ऐसे जिज्ञासुके संदेहको मेटनेके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि जीव और कर्मका अस्तित्व खतम नहीं है । जीव भी स्वतःसिद्ध है और कर्म भी स्वतःसिद्ध है और इस बातको युक्तियोंसे भी समझा जा सकता है ऐसी युक्तियोंसे कि जो स्वानुभवमें उतरी हुई है । और जब सुसम्बेदन प्रत्यक्षमें जीवका अस्तित्व समझा गया, जैसे

समझा गया वैसे ही जब पर्यायमें नहीं समझा तो उससे यह भी समझा जा सकता है कि इसके साथ कोई विजातीय पदार्थ लगा हुआ है। इस तरह जीव और कर्मकी सत्ता असिद्ध नहीं है किन्तु स्वतःसिद्ध है।

अहमप्रत्ययवेद्यत्वाज्जीवस्यास्तित्वमन्वयात् ।

एको दरिद्र एको हि श्रीमानिति च कर्मणः ॥५०॥

**जीवकी सत्ताकी प्रसिद्धि**—जीवकी सत्ता स्वयं सिद्ध है, कर्मकी सत्ता स्वयं सिद्ध है। इसकी सिद्धि इस गाथामें की जा रही है। जीवमें जो अहं प्रत्यय बन रहा है। मैं हूं, मैं सुखी हूं, दुःखी हूं, कर्ता हूं, भोक्ता हूं आदिक अनेक पद्धतियोंमें अहंका जो प्रत्यय हो रहा है, 'मैं' का ज्ञान हो रहा है उस अहं प्रत्ययके द्वारा यह जीवका अस्तित्व सिद्ध है। 'मैं' जिसके लिए कहा जा रहा हो वही तो जीव है। कदाचित कोई यह कहे कि मैं कुछ भी नहीं हूं तो मैं को तो उसने पहिले ही कहा है जिसका कि निषेध करते हैं। उस 'मैं' का निषेध कैसे किया जा सकता है? कोई कहे कि मैं जीव नहीं हूं। मेरे जीवका अस्तित्व ही नहीं है तो उसीसे पूछो कि कौन कहता है कि जीवका अस्तित्व नहीं है? तो वह कहेगा कि मैं कहता हूं। अरे जिस 'मैं' का निषेध कर रहे थे वही 'मैं' सिद्ध तो हो गया। जिसे 'मैं' कह रहा वह कोई चीज तो है। इस शरीरके अन्दर कोई जीव है और वह एक अन्वय रूपसे शरीरमें रह रहा है। जीवका अस्तित्व तो स्वतः सिद्ध है। यदि कोई भौतिकवादी यह कहे कि जीव कोई अलग वस्तु नहीं है किन्तु पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चार भूतोंका जहाँ सम्बन्ध हुआ है तो उससे जीव उत्पन्न हुआ है। तो यों चार महाभूतके मेलसे जीव नहीं बन सकता, क्योंकि महाभूतमें जीवत्वस्वभाव नहीं पड़ा हुआ है, उनमें चेतना नहीं पड़ी हुई है तो उनका कितना ही मेल हो जाय उसमें चेतनात्मक तत्त्वकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि उन चार महाभूतोंमें नहीं है चैतन्य, फिर भी उनके मेलसे जीवत्व बन जायगा तब तो बड़ी विडम्बना बन जायगी। जिस समय कोई मिट्टीकी हंडीमें कढ़ी पका रहे हो तो वहाँ हंडी मिट्टी की है, अथवा कोई ताँबा, पीतल आदि धातुकी हो तो वह भी पृथ्वी ही तो है। तो पृथ्वी वहाँ है ही, जल भी वहाँ पड़ा हुआ है। गर्मी भी वहाँ इतनी अधिक है कि वह सब जल खौल रहा है और वायु इतनी तेज है कि उस हंडीके ऊपर अगर ढक्कन धरा हो तो वह भी उछलकर बाहर गिर जाता है। तो पृथ्वी, जल, अग्नि वायु—इन चार महाभूतोंका संयोग है तब तो वहाँ बाघ, शेर, चीता, हाथी आदि निकल पड़ना चाहिए, क्योंकि चार भूतोंके संयोगमें जीवका उत्पन्न होना बता रहे। तो जिनके जीवत्व नहीं है उनका कितना भी मेल बन जाय उस मेलसे भी चैतन्यस्वरूप जीवकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। जीव है यह बात अहं प्रत्यय द्वारा वेद्य है। मैं हूं, इस प्रकारका जो मैं

जिसके लिए कहा गया वही जीव है ।

**कर्मके अस्तित्वकी सिद्धि**—अब कर्मकी सत्ताके विषयमें देखिये—इस जगतमें लोग नाना प्रकारके दिख रहे हैं, कोई कम ज्ञानी, कोई अधिक ज्ञानी, कोई दरिद्र, कोई श्रीमान, किसीकी टूटी फूटी भोंपड़ी है, किसीके महल हैं, कोई यहाँ मौज मान रहा है, कोई दुःखी हो रहा है । तो ऐसी जो विषमतायें हैं ये जिसके हो रही हैं उस ही पदार्थके स्वभावसे नहीं बन सकती । किसी भी पदार्थका स्वभाव विषमताके लिए नहीं हुआ करता । प्रत्येक पदार्थका स्वभाव समताके लिए, एकरूपताके लिए हुआ करता है । यदि किसी जगह विषमता हुई हो, ऊँच नीचकी स्थिति बनी हो वहाँ समझना चाहिए कि कोई विजातीय पदार्थका मेल है तब वहाँ विषमता हुई है । तो यहाँ कोई श्रीमान, कोई दरिद्र जो दिख रहा है वह सिद्ध करता है कि कर्मकी सत्ता है । यदि ऐसे कर्म उदित न होते तो कोई श्रीमान हो, कोई दरिद्र हो, इस तरहकी वहाँ विषमतायें नहीं होती ।

यथास्तित्त्वं स्वतः सिद्धं संयोगोपि तथानयोः ।

कर्तृभोक्त्रादि भावानामन्यथानुपपत्तितः ॥५१॥

**जीव और कर्मके संयोगकी सिद्धि**—उक्त गाथामें जीव और कर्मका अस्तित्व सिद्ध किया गया है । इस श्लोकमें यह बता रहे हैं कि जिस प्रकार जीवका और कर्मका अस्तित्व स्वतःसिद्ध है उसी प्रकार जीव और कर्म इन दोनोंका सम्बंध भी स्वतःसिद्ध है । यहाँ स्वतः-सिद्धका अर्थ यह है कि जीव और कर्मका मेल अनादिकालसे चला आ रहा है । द्रव्यमें किसी भी कारणसे यह सम्बन्ध बना हो, किसीने बना दिया हो ऐसी बात नहीं, क्योंकि इनका द्रव्य ही कुछ नहीं है । यह अनादि परम्परासे सम्बंध चला आ रहा है । दूसरा तथ्य यह है कि जीव और कर्मका सम्बंध बताना कि किसी ईश्वर-आदिकने जीव और कर्मका मेल नहीं कराया है । जैसे कि लौकिक जन समझते हैं कि कोई एक ईश्वर है, वही जीवमें तकदीर बनाता है । तकदीर लिखनेमें तकदीरका योग जुड़ता है सो ऐसा नहीं है कि किसी ईश्वरने या अन्य पुरुषने किसी जीवके कर्मका योग जोड़ा हो वह जीव और कर्मका सम्बंध स्वतःसिद्ध है । तीसरा तथ्य यह है कि जब जीव और कर्ममें ऐसे निमित्तनैमित्तिक भावकी स्थिति होती है तब जीव रागद्वेषादिक विभावोंरूप परिणाम रहा है उसका निमित्त पाकर यहाँ कर्मोंमें बन्धन स्वतः हुआ है, जीवने भी नहीं किया है, किन्तु इस जीवके विभावका निमित्त पाकर उन पुद्गल कर्मोंमें बन्ध पर्याय उत्पन्न हुई है ऐसा तथ्य बतानेके लिए इस श्लोकमें यह कहा जा रहा है कि जैसे जीव और कर्मकी सत्ता स्वतःसिद्ध है इसी प्रकार जीव और कर्मका संयोग भी, सम्बन्ध भी स्वतःसिद्ध है । यदि जीव और कर्मका सम्बन्ध स्वीकार न किया जाय तो कर्तृत्व-भाव और भोक्तृत्वभाव नहीं बन सकता है । जीव और कर्मका कार्य हम प्रत्यक्ष भी देख रहे

हैं, अतएव जीव और कर्मके संबंधमें किसी प्रकारकी शंका न रहनी चाहिए। यदि इस जीव-कर्मका सम्बन्ध न होता तो यह सिद्ध नहीं हो सकता था कि जीव कर्म करने वाला है और अपने-अपने कर्मके अनुसार, कर्तव्यके अनुसार जीव कर्मके फलको भोगता है। कोई किसी प्रकार समझे, पर इतना उसे कहना ही पड़ेगा कि जीव अपने कर्तव्योंके अनुसार फल भोगता है। जो लोग ऐसा कहते हैं कि ईश्वरने जीवको किया और ईश्वर जीवको फल दिलाता है, वहाँ जब यह शंका की जाती है कि ईश्वर सर्व जीवोंको फल देता है तो सबको समान फल क्यों नहीं देता, चाहका फल क्यों नहीं देता? बुरा फल क्यों देता है, दुर्गतिमें क्यों ढकेलता है? यदि ईश्वर दयालु है तब तो उसे सभीको समान फल देना चाहिये। तो वहाँ लोगोंको उत्तर देना पड़ता है कि जीव जैसे कर्म करता है उसके अनुसार ईश्वर फल देता है। यहाँ इतना तो स्वीकार करना पड़ा कि जीवको जो फल मिलता है उसके कर्तव्यके अनुसार मिलता है। वह कर्तव्य क्या है? कर्म है और उस कर्ममें जो एक विशिष्ट पुद्गल कार्माण बन्ध हुआ है वह कर्म है। तो जीवका सम्बन्ध स्वतःसिद्ध है, कर्मका अस्तित्व स्वतःसिद्ध है, इसी प्रकार जीव और कर्मका सम्बन्ध भी स्वतःसिद्ध है।

ननु मूर्तिमता मूर्तो बध्यते द्व्यणुकादिवत् ।

मूर्तिमत्कर्मणा बन्धो नामूर्तस्य स्फुटं चितः ॥५२॥

अमूर्त आत्माका मूर्तिमान कर्मके साथ बन्धन होनेकी असंभवताकी आशङ्का—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि मूर्तिमान पदार्थके साथ मूर्त पदार्थका बन्ध वह तो न्यायकी बात है और ऐसा होता है जैसे कि परमाणु परमाणुका परस्पर बन्ध हो जाता है, स्कंधोंमें भी परमाणुका, द्रव्यस्कंधका बन्ध हो जाता है, क्योंकि वे दोनों मूर्तिक हैं। तो मूर्तका मूर्तके साथ बन्ध होना तो उचित है लेकिन आत्मा अमूर्त है और पुद्गल कर्म मूर्तिक हैं, तो मूर्त पुद्गलके साथ आत्माका बन्धन कैसे? अमूर्तके साथ मूर्तका बन्ध नहीं हो सकता है। फिर यहाँ यह बात बड़े बल प्रयोगके साथ जो कही गई है कि जीव और कर्मका बन्ध अनादिकाल से है यह बात संगत नहीं बैठती है। एक तो बन्ध ही सम्भव नहीं है। जैसे कि धर्मादिक द्रव्य हैं, अमूर्त हैं, उसके साथ किसका बन्ध हो सकता है? आकाशमें सभी पदार्थ रह सकते हैं, मूर्तिक पदार्थ भी रह रहे हैं, पर आकाशके साथ किसीका बन्ध तो नहीं होता। उसी तरह आकाश आदिककी तरह आत्मा भी अमूर्त है, फिर अमूर्तके साथ मूर्त कर्मका बन्ध किस तरह होगा, ऐसा शंकाकारने अपना आशय रखा है। अब इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं।

नैवं यतः स्वतःसिद्धः स्वभावोतर्कगोचरः ।

तस्मादर्हति नाक्षेपं चेत्परीक्षां च सोर्हति ॥५३॥

उक्त शंकाके समाधानमें अशुद्धताका मूर्तिमान कर्मके साथ बन्ध होनेके स्वभावका



निर्देशन—शंकाकारने उक्त श्लोकमें यह शंका की है कि अमूर्त आत्माके साथ मूर्त कर्मका बन्ध नहीं हो सकता, सो ऐसी शंका संगत नहीं है, क्योंकि जीव और कर्मका बन्ध अनादिसे चल रहा है। यह एक स्वभाव हो गया है, और स्वभावमें कभी कोई तर्क या प्रश्न नहीं किया जा सकता है। स्वभावकी बात यहाँ किसी एक द्रव्यके लिए नहीं कही गई है। जीव-द्रव्यका बन्धनेका स्वभाव हो गया, यह बात नहीं कही जा रही किन्तु कही यहाँ पर्यायगत बात है। जीव अनादिकालसे अशुद्ध है, शुद्ध नहीं होता तो आज भी शुद्ध न हो सकता था। तो उस अशुद्ध आत्माका ऐसा स्वभाव है। तो अशुद्ध पर्यायके स्वभावकी बात कही जा रही है। अथवा जो कुछ घटनायें बन रही हैं ये घटनायें स्वभावरूप हो गयी हैं, अर्थात् ऐसी स्थितिमें कि जीव जब अशुद्ध हुआ तो वहाँ कर्मबन्ध हो ही गया, ऐसा स्वभाव है और जो स्वभाव है वह तर्कके गोचर नहीं होता। उसमें प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है? जीव और कर्मका बन्ध अनादिकालसे हो रहा है, यह बात बड़े विस्तारपूर्वक बतायी गई है। अशुद्ध जीवात्मा का स्वभाव ही ऐसा है और कार्माण स्कंधोंका विस्रसोपचयमें रह रहे उन कार्माण कर्मोंका भी स्वभाव ही ऐसा है कि जब जीवके रागादिक भावोंका निमित्त पाये तो कर्म कर्मरूप बन्ध जायें, और जब कर्मका विपाक आये तो जीवको कषायरूप बर्तना पड़ता है। ऐसा यहाँ पार-तंत्र्य है, निमित्तनैमित्तिक भाव है, इस कारणसे ऐसा बन्ध चल रहा है और इस स्थितिमें ऐसा बन्ध होना स्वभाव है। स्वभावमें प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि यहाँ स्वभाव तो कहा गया है, वह द्रव्यका नहीं बताया गया है, किन्तु पर्यायगत स्वभाव है। जीव अशुद्ध पर्यायमें आया तो उसमें क्या प्रकृति पड़ जाती है, यह बताया गया है।

दृष्टान्तपूर्वक अशुद्ध वस्तुके पर्यायगत स्वभावका स्पष्टीकरण—जैसे यहाँ इन स्कंधों में प्रकृति बतायी जा सकती है। घड़ेमें पानी आ जाय, कोई चीज रखी जाय ऐसा घड़े में स्वभाव पड़ गया है। अब घड़ा जिन परमाणुओंसे बना है उन एक-एक परमाणुओंमें यदि कोई कहे कि उस परमाणुमें भी भय रहनेका स्वभाव होगा, सो नहीं कहा जा सकता। पर्याय जिसमें जो बात सम्भव होती है वह बात इस पर्यायकी स्वभाव रूपसे कही जाती है। तो यों जब जीव अनादिकालसे अशुद्ध है और कार्माणवर्गणायें भी इसी तरहकी योग्यता रखती हैं तो उन दोनोंका उस योग्य स्थितिमें बंध हो जाना यह स्वभावकी ही बात है। जैसे कहते हैं, बिच्छूका काटनेका स्वभाव है, तो बिच्छू एक पर्याय है, उस पर्यायमें रहने वाले का कैसे स्वभाव पड़ गया है? उसकी पर्यायसे ही ताल्लुक है। यदि कोई ऐसा कहे कि बिच्छू पर्यायमें जो जीव रह रहा है उसका स्वभाव है तो बिच्छू पर्याय समाप्त होनेके बाद मानो वह मनुष्यपर्यायमें आ गया तो वहाँ भी काटनेका स्वभाव हो। तो यह पर्यायगत स्वभावकी बात कही जा रही है। जैसे इसी बातको अगली गाथामें स्पष्ट करेंगे। हाँ, यदि इसपर

भी सन्तोष न होता हो तो और परीक्षा ही करनी चाहते हो कि कैसे माना है कि अमूर्त जीव के साथ मूर्तिक कर्मका बन्ध हो गया । उसकी परीक्षा भी बता दी जायगी । उसे युक्तियोंसे भी सिद्ध किया जायगा । इस गाथामें अमूर्त जीवके साथ मूर्त कर्मका बन्ध कैसे होता है, इस शंकाके दो उत्तर दिए गए हैं—एक तो यह कि स्वभाव उस प्रकारका है । स्वभावमें तर्क नहीं उठाया जा सकता । दूसरा उत्तर यह है कि उसकी परीक्षा भी बतायेंगे और युक्तियोंसे भी सिद्ध करेंगे । इन्हीं बातोंमें से पहिली बातका स्पष्टीकरण अब कर रहे हैं ।

अग्नेरोष्णाय यथा लक्ष्म न केनाप्यर्जितं हि तत् ।

एतंविधः स्वभावाद्वा न चेत्स्पर्शनं स्पृश्यताम् ॥५४॥

उदाहरणपूर्वक प्रकृत स्वभावके प्रतापका निर्देश—जैसे अग्निका लक्षण उष्णता है ऐसा सभी लोग कहते हैं । और भी देख लीजिए—जहाँ अग्नि होगी वहाँ किसी ईंधनका संयोग हो जाय तो अग्नि जल जायगी । कभी यदि ऐसी स्थिति आये कि अग्नि भी है और ईंधन भी उसपर डाला हो और फिर भी न जले तो ऐसी स्थितियाँ कब होती हैं जब कि उसका प्रतिबंधक कोई मणि वगैरह मौजूद हो अथवा जैसे कोई वनस्पतिरस होता है जिसे हाथमें लगा लें या ईंधनपर लगा लें फिर अग्नि उसे नहीं जला सकती है । तो वह एक प्रतिबंधक कारण आ गया । कार्य होनेका उपादान निमित्त कारण और प्रतिबंधक कारणका अभाव ये सब चाहिए । तो यह गात दूसरे प्रसंग की है लेकिन यहाँ यह कहा जा रहा कि अग्निमें स्वभाव तो गर्मीका है । तो अग्निमें जो उष्णता आयी है उसको किसमें अर्जित किया है, किसने उसकी कमाई किया है, कैसे उष्णता उसमें आयी है ? उसका उत्तर यह है कि ऐसा ही स्वभाव है । अग्निमें जो उष्णता आयी है वह स्वभावसे आयी है । यहाँ कोई तर्क उठाने लगे, कोई अनुमान प्रयोग करने लगे कि हम तो अग्निको ठंडी मानते हैं और वह युक्ति भी दे देखो अग्नि ठंडी होती है पदार्थ होनेसे । जैसे—जल । जल पदार्थ है वह ठंडा होता है । अतः अग्नि भी पदार्थ है, उसे भी ठंडी होना चाहिए । व्याप्तिका कोई ध्यान न देकर यों ही अनुमानसे किसीपर कोई बात लादे कि अग्नि ठंडी होनी चाहिए, तो उसका उत्तर देनेमें ज्यादा दिमाग लगानेकी आवश्यकता नहीं है, उसके हाथपर अग्निकी डली रख दीजिए, अपने आप वह समझ जायगा कि अग्नि गर्म होती है । अग्निमें गर्मीका स्वभाव है और यह गर्मीका लक्षण है, यह बात स्वभावसे आयी है । यदि कोई नहीं मानता है तो स्पर्श कराकर उसे समझा दीजिए कि देख लो अग्नि गर्म है अथवा नहीं । तो अग्निमें जो गर्मी आयी है, क्यों आयी है, कैसे आयी है, किसने इसमें गर्मी डाल दी है, ये प्रश्न बेकार हैं । स्वभाव ही ऐसा

स्वभाव है वह किसीने नहीं किया है, स्वयं ही है, इसी प्रकार दृष्टान्तमें भी अब बनला रहे हैं ।

तथानादिः स्वतो बन्धो जीवपुद्गलकर्मणोः ।

कुतः केन कृतः कुत्र प्रश्नोयं व्योमपुष्पवत् ॥५५॥

प्रकृत दार्ष्टान्तमें प्रकृत स्वभावके प्रतापका प्रतिपादन—उक्त गाथामें जैसे दृष्टान्तमें घटाया गया है कि अग्निमें उष्णता स्वयं सिद्ध है, उष्णता होना स्वभाव है उसी प्रकार जीव और पुद्गलकर्मका जो अनादि बन्ध चला आ रहा है वह स्वतः है । स्वभाव ऐसा है उसमें यह तर्क नहीं किया जा सकता कि जीव और पुद्गलकर्मका अनादि बंध हुआ है तो कैसे हुआ है, किसने किया है, कहाँ हुआ है आदिक प्रश्न वहाँ नहीं किए जा सकते हैं, क्योंकि ऐसा प्रश्न उठना वहाँ सम्भव ही नह । ऐसा प्रश्न तो आकाशपुष्पकी तरह असत् ही होता है । स्वभावमें क्या प्रश्न किया जाय ? यह बन्ध कहाँसे हुआ ? किस जगहसे आया, किसने किया और किस जगहसे किया ? ये सब प्रश्न यहाँ नहीं उठाने जा सकते । जैसे आकाशके पुष्प कुछ नहीं हैं इसी प्रकार ये प्रश्न भी वहाँ ठहरते नहीं हैं । यों जीव और पुद्गल कर्मका अनादि सम्बन्ध है, यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है ।

चेद् विभ्रुत्सास्तित्ते ते स्यात्तथा वान्यथेति वा ।

स्वानुभूतिसनाथेन प्रत्यक्षेण विमृश्यताम ॥५६॥

अमूर्त आत्माका मूर्तिमान कर्मके साथ बन्ध होनेके सम्बन्धमें स्वानुभूतिसहित प्रत्यक्ष से विमर्श करनेका अनुरोध—कर्मोंका जीवके साथ बन्ध है अथवा नहीं है ऐसी शंका संशय का निवारण स्वभाव बताकर कहा गया है । अब यदि इस उत्तरमें संतोष नहीं हो रहा है और ऐसी तीव्र जिज्ञासा ही है, हृदयमें एक ऐसी प्रबल इच्छा हुई है कि हमको तो भली भाँति युक्तिपूर्वक समझाइये कि कर्मोंका जीवके साथ बन्ध है अथवा नहीं है ? है तो किस तरह है ? तो स्वानुभूति सहित प्रत्यक्षसे पहिले विचार कर लीजिए अर्थात् अपने अनुभवसे ही इस शंकाका समाधान कर लीजिए कि वस्तुतः अर्थात् सही रूपसे यह बात उतरती है अथवा नहीं कि जीवका और पुद्गलकर्मका अनादिकालसे सम्बन्ध है, परम्परा है और ऐसा स्वभावसे ही हुआ है, वहाँ किसने किया ? प्रथम तो यह प्रश्न यों नहीं उठता कि यही निर्णय कोई नहीं कर सकता कि सबसे पहिले जीवमें रागादिक भाव आये या पहिले कर्मबन्ध था ? ये दोनों ही अनादिसे हैं, ऐसा ही स्वभाव है लेकिन इस स्वभावके उत्तरमें संतोष नहीं है तो अपने अनुभवसे विचार कर लीजिए । वह क्या अनुभव है जिससे कि स्वयं विचार किया जा सकता है । उस अनुभवकी बात स्पष्ट कर रहे हैं ।

अस्त्यमूर्तं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च वस्तुतः ।

मद्यादिना समूर्तेन स्यात्तत्पाकानुसारि तत् ॥५७॥

अमूर्त मतिज्ञान व श्रुतज्ञानका मद्यादिपानके प्रसङ्गमें बड़ विकृत बेहोश हो जानेका प्रत्यक्ष उदाहरण—देखिये—यह तो निश्चय हो गया कि ज्ञान अमूर्त है, आत्मा अमूर्त है। तो आत्माकी जितनी शक्तियाँ हैं, जो धर्म हैं, जो गुण हैं वे भी अमूर्त हैं। तो आत्माकी जितनी शक्तियाँ हैं, जो धर्म हैं, जो गुण हैं वे भी अमूर्त हैं। जब आत्मामें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं हैं तो आत्माकी क्या किसी शक्तिमें रूप, रस, गंध, स्पर्श आ जायगा। आत्मामें मूर्तपना नहीं है तो आत्माके ज्ञानमें भी मूर्तपना नहीं है। हम आपको भी जो आजकल ज्ञान चल रहे हैं, क्या कोई यह कह सकता है कि हमारा ज्ञान काला है, नीला है अथवा सुगंध है दुर्गन्ध है, यह कठोर है, चिकना है आदिक ? तो जैसे आत्मा अमूर्त है उसी प्रकार ज्ञान भी अमूर्त है, लेकिन देखा यह जा रहा है कि ऐसा अमूर्त ज्ञानमात्र मूर्त मदिरा आदिक के कारणसे बेहोश हो जाता है, ढक जाता है। वह ज्ञान प्रभावित हो जाता है। यह तो अनेक जगह देखनेको मिल जायगा। जो लोग मदिराका पान कर लेते हैं उनकी हालत बेहोशीकी हो जाती है। वे सड़कपर पड़े रहते हैं, कुत्ते भी उनके मुखमें मूत जाते हैं। भला बेहोशी न हो तो ऐसी बात कोई आदमी सह सकता है ? उसका ज्ञान दब गया, गड़-बड़ ज्ञान हो गया, यह हुआ मदिरापान करनेके कारण। तो मदिरा मूर्तिक है, ज्ञान अमूर्तिक है, वहाँ भी एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि मदिरापान करने से अमूर्त ज्ञानपर यह असर क्यों हुआ ? अमूर्तके साथ मूर्तका इस तरह जुड़ाव कैसे बना ? वहाँ भी प्रश्न हो सकता है। लेकिन उस स्थलमें तो अपना अनुभव गवाही दे रहा है, स्वयं प्रत्यक्षसे देख रहा है कि मदिरा पीने वाले पुरुषका ज्ञान बिगड़ गया। तो देख लीजिए—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान ये आत्माके ज्ञानगुणकी ही तो पर्याय हैं। ज्ञानकी ५ पर्यायें कही गई हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि-ज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। जैसे कि केवलज्ञान तो सकल प्रत्यक्ष है, निर्दोष है, निरुपाधि है, वहाँ तो कभी बिगड़नेका प्रश्न ही नहीं होता। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये विकल प्रत्यक्ष हैं, इन्द्रियजन्य नहीं हैं, फिर भी इसमें भीतरी आत्माके कोई चिन्ह हैं या दूसरेके मनमें रहने वाले पदार्थोंको जानता है। कुछ थोड़ा बहुत सम्बन्ध है मूर्त पदार्थके साथ अथवा इसके आवरणका कभी उदय भी आ सकता है, लेकिन यह ज्ञान हम आपके नहीं है और न स्वानुभव प्रत्यक्ष द्वारा इसकी बात बता सकते हैं, अतः इसको भी छोड़ें। अब शेष रहे दो ज्ञान—मति और श्रुत, जो यहाँ मनुष्योंमें पाये जा रहे हैं। ये ज्ञानगुणकी पर्यायें हैं। यहाँ देखते हैं कि कोई पुरुष मदिरा पी लेता है तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान जो कि अमूर्तज्ञान हैं ये गड़गड़ हो जाते हैं, बेहोश हो जाते हैं। तो इससे सिद्ध हुआ कि यह बेहोशी जब मदिराके निमित्तसे हुई है तो ऐसा पारतंत्र्य जीव कर्मका बन्धन यह भी किसी निमित्त को पाकर हो जाया करता है। तो जैसे मूर्त मदिराके सम्बन्धसे अमूर्त ज्ञानपर प्रभाव हुआ

है इसी प्रकार योग्य उपाधिके सन्निधानसे अथवा योग्यतासे जीव और कर्ममें बन्धनकी भी बात आ जाती है। अर्थात् मूर्त कर्मके द्वारा अमूर्त आत्मा भी बन्ध जाता है। जैसे मूर्त मदिरासे अमूर्त ज्ञानपर प्रभाव पड़ा हुआ है। इस दृष्टान्तसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मूर्त कर्मके द्वारा अमूर्त आत्माका बन्ध भी हो जाता है। अब इसीका स्पष्ट अर्थ अथवा सारांश बताते हैं।

नासिद्धं तत्तथायोगात् यथा दृष्टोपलब्धितः ।

बिना मद्यादिना यस्मात् तद्विशिष्टं न तद्द्वयम् ॥५८॥

मद्यादि द्वारा मति श्रुतज्ञानके बिगड़ जानेकी असिद्धताकी असिद्धि—उक्त गाथामें बताया गया है कि मूर्त मदिराके सम्बंधसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान जो कि अमूर्त हैं ये बेहोश हो जाते हैं यह बात असिद्ध नहीं है, ऐसा तो देखा ही जा रहा है, और यह भी देखा जाता कि जब मदिराका नशा उतर जाता है तो वही पुरुष फिर चेत भी जाता है। अथवा जिनके मद्यादिकका सम्बंध नहीं है उनका ज्ञान सही काम कर रहा है। तो जब ये दोनों बातें प्रत्यक्ष से देखी जा रही हैं तो सिद्ध हो जाता है कि मदिरापानसे ज्ञान मंद हो जाता है। तो जैसे मदिरापानसे ज्ञान मंद हुआ, ऐसे ही मूर्त कर्मके साथ अमूर्त आत्माका बंध हो जाता है, यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है। तो जैसे जीव अनादिसे अशुद्ध है और ये कार्माण वगैरार्थ भी अनादिसे अशुद्ध हैं, ऐसा नियम नहीं है कि ये सब अनादिसे शुद्ध ही थे, पीछे इनमें अशुद्धता आयी, यद्यपि पुद्गलमें शुद्ध अशुद्ध होना यह परिवर्तन चलता रहता है, पर वहाँ यह नियम नहीं बनाया जा सकता कि पुद्गल अनादिसे शुद्ध था अथवा जीवके बन्धनमें आया हुआ कर्म शुद्ध हो। तो यहाँ ये कार्माणस्कंध भी अशुद्ध हैं और यहाँ यह जीव भी अशुद्ध है और इनका सत्त्व भी अनादिसे है। तो इनका संयोग भी अनादिसे है। यों जीव और कर्म का बन्ध अनादिसे है, यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है।

आप चोपचारतो मूर्तं तूक्तं ज्ञानद्वयं हि यत् ।

न तत्तत्त्वाद्यथा ज्ञानं वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥५९॥

उपचारमात्रसे ज्ञानकी मूर्तताका व्यवहार व तत्त्वतः ज्ञानकी अमूर्तताका प्रकाश—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उपचारसे मूर्त भी हैं, परन्तु यह उपचार किस कारणसे किया गया है? वास्तवमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान मूर्त नहीं हैं। तत्त्वदृष्टिसे निरखा जाय तो ज्ञान अमूर्त ही है और जो अमूर्त ज्ञान है वह कभी मूर्त हो ही नहीं सकता, क्योंकि वस्तुमें जो स्वरूप है, उसकी सीमा है, उसका उल्लंघन ही कोई नहीं होता, जो मूर्त है वह हर स्थिति में मूर्त ही रहेगा और जो अमूर्त है वह सदा अमूर्त ही रहेगा। जिस पदार्थमें रूप, रस, गंध स्पर्श है वह तो रूप, रस, गंध, स्पर्शादिकमय ही रहेगा। चाहे बिखर कर अकेला भी हो

जाय, अणु तो भी वह रूप, रस, वर्ण गंधमय होगा ही और जो पदार्थ अमूर्त हैं उनमें कितना भी उपाधिका सम्बन्ध बढ़ जाय, वहाँ कभी रूप, गंध, स्पर्श नहीं हो सकता है। तो जब मूर्त मूर्त ही रहता है और अमूर्त अमूर्त ही रहता है तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान वास्तवमें अमूर्त ही रहेंगे। अतः उपचारसे कथञ्चित् मूर्त कह दिया जा सकता है।

नासिद्धश्चोपचारोयं मूर्तं यत्तत्त्वतोपि च ।

वैचित्र्याद्वस्तुशक्तीनां स्वतः स्वस्यापराधतः ॥६०॥

ज्ञानके मूर्तत्वके उपचारकी सिद्धि—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान वास्तवमें अमूर्त ही हैं, उनमें उपचार करके मूर्तपनेकी बात कही गई है सो ठीक है, वह उपचार असिद्ध नहीं है अर्थात् उस उपचारकी दृष्टिमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान मूर्त ही बन जाते हैं। हाँ है उपचारसे जिस उपचारसे उन ज्ञानोंको मूर्त कहा गया है वह उपचार असिद्ध नहीं है, किन्तु सिद्ध है, वह ज्ञान चूँकि कर्मोंसे आवृत अथवा कर्म और साधन अनुकूल जुटने पर यह बेहोश हो जाता है, इस कारणसे उपचारसे मूर्त कहा गया है। वस्तुतः मूर्त नहीं है। अथवा जब पर्याय व्यवहारकी दृष्टिमें ही रहकर निरखा जायगा तो यह भी न कहा जा सकेगा कि यह ज्ञान मूर्त बन जाता है। वस्तुमें इस ही प्रकारकी शक्तियाँ होती हैं कि उनके कारण कुछ विरुद्ध ऐसा बन जाता है कि पदार्थको अपने स्वभावसे विपरीत परिस्थितिमें गुजरना पड़ता है। आत्माका ज्ञानगुण अमूर्त है वह यहाँ मूर्त कैसे बन गया? और यहाँ वस्तुशक्तिका इस तरहका परिणामन कैसे आ गया? इसमें किसका दोष बताया जायगा? यही कहा जायगा कि स्वयं आत्माने अपना अपराध किया है, जिस कारणसे उसे मूर्त बनना पड़ा है। उपचार होनेका कारण यह होता है कि जहाँ मुख्य तो कुछ हो नहीं और प्रयोजन अथवा निमित्त हो तो वहाँ उपचारकी प्रवृत्ति होती है। जैसे किसी बालकका नाम अग्नि रख दिया गया तो बालकको अग्नि उपचारसे ही तो कहा गया है कि क्या सचमुचमें वह अग्नि बन गया है? अग्निमें एक तेजस गुण पाया जाता है, गर्मी पायी जाती है और उस बालकमें भी विशेष क्रोध देखा गया, उसके तेजी पायी गई तो उसको दृष्टिमें रखकर लोग उपचारसे उसे अग्नि कह देते हैं पर वास्तवमें वह बालक अग्नि नहीं हो जाता, तो ऐसे ही ज्ञान तो वास्तवमें अमूर्त है, फिर भी उसमें मूर्तपनेका जो उपचार किया गया है वह कर्मके निमित्त से है। कर्मका आत्माके साथ अनादिकालसे ही बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध चला आया है। तो आत्माका विपाक भी उसी प्रकार होने लगा। यों यह कहना पड़ता है कि लो अब आत्मा भी मूर्त बन गया। तो मूर्ततामें कारण क्या कहा जाय? बाह्यको ओरसे तो यह कहा जायगा कि कर्मोंका सम्बन्ध है, शरीरका सम्बन्ध है, इसकी आधीनता है और अन्तरङ्गसे यह कहा जायगा कि इस जीवने स्वयं अपने आप अपराध किया है, अपना निज स्वभाव

छोड़ दिया है। अपने आपकी सुध भी नहीं रखी है, इस कारण यह जीव कर्म और शरीर में ऐसा बँधा-बँधा फिर रहा है।

अप्यस्त्यनादिसिद्धस्य सतः स्वाभाविकी क्रिया ।

वैभाविकी क्रिया चास्ति पारिणामिकशक्तितः ॥६१॥

जीवके द्विविध परिणामन—अनादिसिद्ध इस जीवात्मामें ये दो प्रकारकी क्रियायें विदित हो रही हैं—स्वभावकी क्रिया और वैभाविकी क्रिया। ये प्रत्येक पदार्थमें परिणामनशील होती है। जीव भी एक पदार्थ है, वहाँ भी परिणामनशील है, निरन्तर परिणाम रहा है। तो उसके इस परिणामनमें दो प्रकारकी क्रिया विदित होती हैं, स्वभाविकी क्रिया और वैभाविकी क्रिया। एक अवस्थाको छोड़कर, दूसरी अवस्थाको धारण करना यही तो परिणामन कहलाता है। तो ऐसे ही परिणामनके कारण जीवात्मामें दो प्रकारका परिणामन पाया गया, स्वभावपरिणामन और विभावपरिणामन। जैसे अरहंत सिद्ध आत्माओंमें स्वभावपरिणामन पाया जाता है, छद्मस्थ संसारी मोही प्राणियोंमें विभावपरिणामन पाया जाता है इस प्रकारके दो पद्धतियोंके परिणामन इस जीवात्मामें पाये जा रहे हैं तो उन परिणामनोंपर विचार करते हैं कि जीवमें ऐसे दो प्रकारके परिणामन हो क्यों जाते हैं? उसका आधार क्या है? इसी बातको स्पष्ट करनेके लिए कहते हैं।

न परं स्यात्परायत्ता सतो वैभाविकी क्रिया ।

यस्मात्सतोऽसती शक्तिः कर्तुं मन्यैर्न शक्यते ॥६२॥

जीवकी वैभाविकी क्रिया व उसकी निश्चयनयतः परायत्तताका अभाव—इस जीव में जो वैभाविकी क्रिया हो रही है वह किसी परके आधीन नहीं हो रही है। किन्तु हो तो रही है आत्मामें ही। वहाँ कोई परपदार्थ निमित्त होता है। यदि कोई वैभाविक शक्तिको ही पराधीन समझ ले तो उसके लिए आचार्यदेव इस श्लोकमें सम्बोध रहे हैं कि अरे वैभाविकी शक्ति तो आत्माका सच्चा गुण है। जैसे कि आत्मामें अन्य अनेक गुण रहते हैं उसी प्रकार एक वैभाविक गुण भी है। उस वैभाविक गुणका विभावपरिणामन और स्वभावपरिणामन ऐसी दो पद्धतियोंमें परिणामन होता। यदि वैभाविक गुण आत्माका निज गुण न होता तो आत्मामें विभावस्वभावरूप परिणामन न हो सकता था। वैभाविक शक्तिका यह भाव है कि आत्मामें किसी न किसी रूप परिणामनेका तो सामर्थ्य है ही, पर आत्मा विपरीत रूपसे परिणाम सकता है। इतना विशेषता बतानेके लिए उस भावशक्तिमें ही 'वि' इतना विशेषण देकर समझाया गया है कि आत्मामें एक वैभाविकी शक्ति है। यह वैभाविकी शक्ति अपनी ओरसे अपने आपको निमित्त बनाकर विभाव उत्पन्न नहीं कर सकता है। विभाव होता है तो पर-उपाधिक निमित्त पाकर होता है। कोई भी शक्ति शक्ति

शक्तिमानके बिगाड़के लिए नहीं होती। शक्ति स्वभाव गुण, धर्म तों पदार्थकी रक्षा और पुष्टिके लिए ही है। यों वैभाविकी शक्ति उपाधिका सन्निधान पाकर विभावरूप परिणमती है और उपाधिका निमित्त न रहे और स्वयं आत्मामें योग्यता भरी हो तो आत्माकी स्वभावरूपमें प्रकृति है। इस तरह जीवका जो विभावपरिणमन है वह उपाधिको पाकर हुआ है और जीवमें ही हो सका है, ऐसा परिणमन इस बातको जताने वाली यह वैभाविकी शक्ति है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जीवमें विभावरूप परिणमनेका सामर्थ्य है।

ननु वैभाविकभावाख्या क्रिया चेत्यपरिणामिकी ।

स्वाभाविक्याः क्रियायाश्च कः शेषो हि विशेषभाक् ॥६३॥

वैभाविकी शक्तिके सब परिणमन मान लेने पर स्वाभाविकी शक्तिकी अविशेषता की आशङ्का—यहाँ शंकाकार कहता है कि वैभाविकी नामकी शक्ति ही परिणमनशील है तो उसीका विभाव और स्वभाव परिणमन माना गया है। फिर स्वभावकी शक्तिमें क्या विशेषता बाकी रही? शङ्काकारका यह अभिप्राय है कि स्वभावपरिणमनका आधार भी वैभाविकी शक्ति है और विभावपरिणमनका आधार भी वैभाविकी शक्ति है। तब स्वाभाविक शक्तिमें फिर विशेषता क्या आयी? अथवा उसको माननेकी भी जरूरत क्या रही? एक वैभाविकी शक्ति है उस ही का स्वभावपरिणमन हुआ, उस ही का विभावपरिणमन हुआ, फिर स्वाभाविक क्रियाकी विशेषता ही क्या रही? जैसे द्रव्यमें स्वाभाविक शक्तियाँ मानी जा रही हैं, जीवमें स्वाभाविक शक्ति माननेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती। एक वैभाविकी शक्ति ही सर्व समस्याओंको सुलझा देती है। क्योंकि उसही का स्वभावपरिणमन और विभावपरिणमन दोनों बताये गए हैं। अथवा इसी विषयमें शंकाकार पुनः कह रहा है।

अपि चार्थ परिच्छेदि ज्ञानं स्वं लक्षणं चितः ।

ज्ञेयाकारक्रिया चास्य कुतो वैभाविकी क्रिया ॥६४॥

ज्ञानकी किसी भी ज्ञेयाकारक्रियामें विभावत्व न माननेका शंकाकारका आशय—शङ्काकार यह कहता है कि देखिये—पदार्थको जानने वाला जो ज्ञान है वह तो जीवका स्वलक्षण है। अब उस ज्ञानमें जो ज्ञेयाकार क्रिया हुई तो उस क्रियाको वैभाविकी कैसे कहा जा सकता है? इस शङ्कामें मानो वैभाविकी क्रियाका निषेध रहा है अथवा ज्ञानमें आने वाले ज्ञेयपरिणमनों भी वैभाविकी बता रहा है, इस पद्धतिसे यहाँ शङ्का की जा रही है। शङ्काकारका आशय वह है कि वैभाविक उसे चहते हैं जो परनिमित्तसे हो। अब यह देखिये ज्ञान भी तो ज्ञेय पदार्थके निमित्तसे हो रहा है, ज्ञानमें ज्ञेयमें आकारको धारण कर रहा है, तो पर निमित्तसे तो हो गया, लेकिन इस ज्ञेयाकारको धारण करने वाला ज्ञान



क्या वैभाविक कहा जायगा ? ऐसा जो अर्थ विकल्प है, ज्ञेय ग्रहण है क्या घट विपरीत परिणामन है ? जीवकी क्या वैभाविकी क्रिया है ? यदि इस तरह जीवकी वैभाविकी क्रिया बन जाय तब तो फिर स्वाभाविकी क्रिया रही । इसीके आशयको शङ्काकार निम्न श्लोक में स्पष्ट कर रहा है ।

तस्माद्यथा घटाकृत्या घटज्ञानं न तद् घटः ।

मद्यकृत्या तथाज्ञानं ज्ञानं ज्ञानं न तन्मयम् ॥६५॥

उदाहरणपूर्वक ज्ञेयाकार ज्ञानमें अविकृतता बताकर वैभाविकी शक्ति माननेकी अनावश्यकताका शंकाकार द्वारा प्रतिपादन—शङ्काकार उक्त शङ्काका आशय स्पष्ट कर रहा है कि जिस समय ज्ञेयके निमित्तसे ज्ञान ज्ञेयाकार हो जाता है उस समय ज्ञान ज्ञान ही रहता है । तो वहाँ ज्ञान ज्ञान ही रहा, ज्ञेय नहीं हो गया । जैसे किसी ने घटको जाना तो ज्ञानमें घटाकर आया, उस समय वह घटज्ञान ज्ञान ही रहा, वह घटज्ञान घट न बन जायगा । इसी तरहसे मदिरा का निमित्त पाकर जो ज्ञान मद्याकार हुआ, मूर्च्छित हुआ तो वहाँ भी वह ज्ञान ही है, वह मदिरामय नहीं हो जाता, तब वहाँ विभाव क्या आया ? अमूर्त ज्ञान अमूर्तरूप ही रहा, उसका फिर बंधन किस तरहसे हो सकेगा ? शङ्काकारका यह आशय है कि मदिरापान करनेपर भी ज्ञान मदिरा नहीं बन जाता । ज्ञान ज्ञान ही रहता है । जैसे घट पट आदिक पदार्थोंका ज्ञान करने पर ज्ञान ज्ञान ही है, वह कहीं घट-पटादिक रूप नहीं बन जाता । तो ऐसी स्थितिमें ज्ञानमें बद्धता क्या आयी और विभाव भी क्या आया ? वैभाविकी शक्ति माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है ? इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं ।

नैवं यतो विशेषोस्ति बद्धाबद्धावबोधयोः ।

मोहकर्मावृतो बद्धः स्यादबद्धस्तदत्ययात् ॥६६॥

बद्ध व अबद्ध ज्ञानमें अन्तर—शङ्काकारका यह कहना कि मदिरापान करने पर भी उस स्थितिमें बदला हुआ ज्ञान भी तो ज्ञान ही है और मदिरापान न करे ऐसी स्थितिमें जो ज्ञेय पदार्थके आकार हुआ ज्ञान है वह भी ज्ञान है । तब ज्ञानपना दोनों जगह समान है । न तो घटपटादिकका ज्ञान करने पर ज्ञान घटपटादिक रूप बना और न मदिरापान करने पर ज्ञान अज्ञान बना । ज्ञान यहाँ भी है, ज्ञान वहाँ भी है । तो ज्ञानपना दोनोंमें समान है, तब वैभाविकी शक्ति माननेकी क्या आवश्यकता है ? इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि केवल ज्ञेयपदार्थ विषयमें आ रहे हों और वहाँ अन्य कुछ निमित्त न हो, ऐसी स्थितिमें होने वाला ज्ञान और मदिरापान करने पर होने वाला, बदलने वाला ज्ञान, इन दोनों ज्ञानोंमें बहुत अन्तर है । शङ्काकार यह जो समझ रहा है कि चाहे ज्ञान घट पटको जाने तो भी ज्ञान

ज्ञान ही है, वह घटपटादिक रूप नहीं बन जाता, ऐसे ही मदिरा पी लेने पर जानने अपना परिणामन किया तो भी ज्ञान ज्ञान ही है, कहीं मदिरा तो नहीं बन गया। यों ज्ञानोंमें कोई अन्तर नहीं है। सो शंकाकारका यह मानना युक्त नहीं है। मदिरापान करने पर बदला हुआ ज्ञान मलिन है, और ढंगका है और मदिरापान किए बिना केवल पदार्थोंके विषयके निमित्तमात्रसे जो ज्ञान बनता है वह ज्ञान स्पष्ट है, सावधान है। इन दोनों ज्ञानोंमें अन्तर है। मदिराके निमित्तसे जो ज्ञान बदलता है उस ज्ञानमें तो यथार्थता नहीं है और जो केवल ज्ञेयके निमित्तसे ज्ञेयाकार हो रहा है ऐसे ज्ञानमें यथार्थता है। तो इन दोनों स्थितियोंके ज्ञानों में बहुत बड़ा अन्तर है अथवा यों कह लीजिए कि एक ज्ञान तो बद्ध ज्ञान है, दूसरा ज्ञान अबद्ध ज्ञान है। यह एक आपेक्षिक ढंगमें कह रहे हैं। यहां हम आप मनुष्योंके मदिरापानके समय होने वाला ज्ञान बद्ध ज्ञान है और मदिरापान आदिकके अभावमें स्पष्ट बुद्धिके समय होने वाला ज्ञान अबद्ध ज्ञान है। वस्तुतः तो यह मान लिया कि सभी ज्ञान बद्ध ज्ञान है पर एक मुकाबलेतन दृष्टान्तके अनुरूप बात कही जा रही है। वास्तविकता तो यह है कि जहाँ तक जीवके मोहकर्मका सम्बन्ध बना है तहाँ तक ज्ञानबद्ध ज्ञान कहालाता है। जहाँ मोह कर्मका अभाव हो गया है वह ज्ञान अबद्ध ज्ञान कहालाता है। यों बद्धज्ञानमें और अबद्धज्ञान में बड़ा अन्तर है। तब शंकाकारका यह कहना कि मदिरापान करे तब भी वह ज्ञान ज्ञान ही है और मदिरापान न करे तब भी ज्ञान ज्ञान ही है। यों समानताकी बात कहना असंगत है। बद्ध और अबद्ध ज्ञानमें क्या अन्तर है? इसी बातको अब अगली गाथामें स्पष्ट करते हैं।

मोहकर्मवृत्तं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् ।

इष्टानिष्टार्थसंयोगात् स्वयं रज्यद्विषद्यथा ॥६७॥

**मोहकर्मवृत्त, बद्ध ज्ञानकी विडम्बना—**

मोहनीय कर्मसे जो ज्ञान आवृत्त हो गया है वह ज्ञान अर्थके अनुसार परिणामन कर रहा है अर्थात् इष्ट पदार्थके संयोगसे वह ज्ञान राग कर रहा है और अनिष्ट पदार्थके संयोगसे वह द्वेष कर रहा है। यहाँ एक बात विशेषतया यह जानना है कि ज्ञान और आत्मा इन्हें एक मानकर कथन किया जा रहा है। ज्ञान गुण है। ज्ञानका काम मात्र जानना है। रागद्वेष चारित्रगुणके विकार हैं। रागद्वेषका ज्ञानसे सम्बन्ध नहीं है। ऐसे दो गुणोंको दृष्टिमें रखकर यह कथन नहीं है, किन्तु ज्ञान है सो आत्मा है, तो ज्ञान बद्ध है, इसका अर्थ है—आत्मा बद्ध है। रागद्वेष कर रहा है आत्मा, इसका अर्थ है कि यह ज्ञान रागद्वेष कर रहा है। तो उस ज्ञानकी चर्चा यहाँ चल रही है। जब कि ज्ञान मोहकर्मसे आवृत्त हो जाता है अर्थात् मोहनीय कर्मका विपाक होता है तो उस समय यह ज्ञान जिस-जिस पदार्थको जानता है उस उस पदार्थ में इष्ट बुद्धि रखता है अथवा अनिष्टबुद्धि रखता है। तो स्वयं राग करता हुआ और द्वेष

करता हुआ चलता है। छद्मस्थ अवस्थामें ज्ञानमें ऐसी योग्यता है कि वह पदार्थोंको क्रम क्रम से जाने। जब तक ज्ञानावरण कर्मका सम्बन्ध है तब तक उसके क्षयोपशममें इतनी ही शक्ति प्रकट है कि वह कुछ जाने और क्रमसे जाने, और वहाँ मोहनीय पदार्थका सम्बन्ध है तो इष्ट या अनिष्ट जैसे पदार्थ उसे मिलते हैं। वस्तुतः इष्ट और अनिष्ट कुछ नहीं है, उसकी कल्पनामें इष्ट और अनिष्ट है। तो जो इष्ट अनिष्ट पदार्थ हैं उन पदार्थोंमें राग अथवा द्वेषकी बुद्धि होना यह मोहनीय कर्मके निमित्तसे हो रहा है। पर हो कौन रहा है? यह ज्ञान। ज्ञान ही राग अथवा द्वेष कर रहा है। ज्ञानका अर्थ यहाँ आत्मतत्त्वसे है। तथ्य यदि देखा जाय तो जगतमें इष्ट और अनिष्ट पदार्थ कुछ नहीं है। एक पुरुषके वुट्टुम्बमें जो स्त्री पुत्रादिक जीव आये हुए हैं उन्हें वह अपना सर्वस्व मानता है, दूसरे लोग उन्हें अपना कुछ नहीं मानते। और कदाचित् उन जीवोंके बजाय कोई दूसरे जीव आये होते या जिन्हें और समझ रहा है वही जीव आये होते तो उन्हें अपना मानता। तो यहाँ क्या है? मोहका ही तो पागलपन है। किन्हींको मान लिया कि ये मेरे हैं और किन्हींको मान लिया कि ये मेरे हैं। यह मोहकी उन्मत्तता है। वस्तुतः अपने स्वरूपको छोड़कर अन्य कुछ भी मेरा नहीं है, जो कुछ है वह मेरा स्वरूप है। बाहरी पदार्थ इष्ट और अनिष्ट बनते हैं वह इसकी कल्पनाके आधारसे बनते हैं। यह कल्पना बेकार है और पारलपन है। क्यों कल्पना इस भगवान् आत्मामें उठ रही है? जब इसका स्वरूप विशुद्ध है, ज्ञानानन्दमय है जैसा कि प्रभुमें प्रकट हुआ है वहाँ न चलकर यह क्यों बँध गया है बाह्य पदार्थोंसे, अर्थात् इष्ट अनिष्ट भाव करके रागद्वेषादिकमें यह क्यों बँध गया है? यह सब एक मलिन अवस्था है। तो मलिन अवस्थाके ज्ञानमें और निर्मल अवस्थाके ज्ञानमें क्या अन्तर नहीं है? इतना बड़ा अन्तर तो हो रहा है कि मलिन अवस्था वाला जन्म मरण कर रहा, कष्ट सह रहा, आकुलित हो रहा और जो मोहकर्मसे रहित है ऐसा भगवान् आत्मा विशुद्ध आत्मामें बर्त रहा है, इतना बड़ा अन्तर है, फिर भी शंकाकार यहाँ कह रहा है कि चाहे मदिरापानमें रहने वाला ज्ञान हो और चाहे मदिरापान किए बिना केवल ज्ञानको विषय करने वाला ज्ञान हो, ज्ञान तो दोनों ही हैं, उनमें क्या अन्तर है? शङ्काकारका यह आशय युक्त नहीं है।

तत्र ज्ञानमबद्धं स्यान्मोहकर्मतिगं यथा ।

क्षायिकं शुद्धमेवैतल्लोकालोकावभासकम् ॥६८॥

अबद्ध, मोहातिक्रान्त ज्ञानकी शुद्धता और महिमा—बद्ध ज्ञानकी बात उक्त श्लोक में कही गई है। यहाँ अबद्ध ज्ञानका स्वरूप बताया जा रहा है। जो ज्ञान मोहकर्मसे परे है अर्थात् जिस ज्ञानके साथ मोहकर्मका सम्बन्ध नहीं रहा है उसको अबद्धज्ञान कहते हैं। ऐसा अबद्धज्ञान क्षायिक है और जैसे जो अपना स्वरूप रख रहे हैं, जैसे परिणाम रहे हैं

वैसे ही सर्व विश्वका जाननहार है। जब तक जीवके मोहकर्मका सम्बन्ध रह रहा है तब तक तो इसके अष्टकर्मका ही सम्बन्ध है। जब मोहकर्मका सम्बन्ध बिल्कुल छूट जाता है ऐसी अवस्थामें प्रथम अन्तर्मुहूर्तमें ७ कर्म उसके मौजूद हैं। मोह कर्म न रहा, किन्तु अन्तर्मुहूर्त की स्थिति निकलनेके बाद तीन घातियाकर्म भी नष्ट हो जाते हैं। सो जब चार घातिया कर्मोंसे रहित केवल अरहंतप्रभु हो जाते हैं वहाँ उसका ज्ञान शुद्ध ज्ञान है, मोहकर्मसे रहित ज्ञान है। मोह कर्मसे रहित ज्ञान तो १२ वें गुणस्थानमें भी है। जहाँ ३ घातिया कर्म अभी हैं, मोहनीयकर्म न रहा सो वह भी ज्ञान शुद्ध ज्ञान है और वह एक बहुत छोटे अन्तर्मुहूर्तमें, जैसे एक दो चुटकीके बजानेमें जितना समय लगे उतने समय जितना ही तो काल है उसके उतने समयमें वह ज्ञान शुद्ध ज्ञान है और तुरन्त ही उस ज्ञानमें इतना विकास होने वाला है, वह समस्त लोकालोकको जानने वाला है, क्लेश उस दशामें भी नहीं है, किन्तु अनुभव करने वाला तो ज्ञान है, वह वहाँ अनन्त नहीं है सो अनन्त आनन्द नहीं कहा। अब चार घातिया कर्मोंसे रहित होनेपर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द व अनन्तशक्ति प्रकट हुई है। वहाँ ज्ञान, क्षायिक ज्ञान है। अबद्ध ज्ञान है, उस ज्ञानकी तुलना यहाँ मोही कर्मसहित ज्ञानसे शंकाकार कर रहा है तो कैसे यह तुलना की जा सकती है? यह अबद्ध ज्ञान समस्त विश्वका प्रकाश करने वाला है। जानावरणकी, सर्व जानावरणकी मलिनतासे दूर हो गया है। यहाँ घातिया कर्मोंका कोई आवरण नहीं है, ऐसा यह अबद्धज्ञान शुद्ध क्षायिक ज्ञान है, अनन्त आनन्दके साथ जिसका विलास चल रहा है, ऐसा पवित्र ज्ञान ही हम आप सबके लिए हितरूप है।

**शुद्ध, अबद्ध ज्ञानसे ही महत्त्व व शाश्वत कल्याण**—हम आप सब लोग ऐसी अभिलाषा रखते हैं कि हम बड़े कहलायें और सुख शान्तिमें रहा करें। प्रथम तो इस कल्पनामें जितना अपनेको बड़ा माननेकी बात समझ रखी है वह कुछ बड़प्पन नहीं है। ऐसा बड़ा माननेकी कल्पनामें ही अशान्ति भरी हुई है। सो बड़ा मानना और शान्ति पाना—इन दोनों का ही विरोध है और फिर जो वास्तविक महत्त्व है, बड़प्पन है, यदि उसके लिए रुचि जग जाय तो वहाँ इसे अनुचारिणीं शान्ति अवश्य मिल जायगी। बड़प्पन है इस क्षायिक ज्ञानकी स्थितिमें। हमारी धुन होना चाहिए कि मेरी यह स्थिति कब बने? अन्य सारी स्थितियाँ बेकारकी स्थितियाँ हैं, जीवको भुलाने वाली हैं। मेरी तो अरहंत अवस्था प्रकट हो और मेरा ज्ञान बिना बन्धनके, बिना मर्यादाके सारे विश्वको जान जाय अथवा विश्वको जाने या न जाने उससे भी हमें प्रयोजन नहीं है, क्योंकि जानकर भी क्या मिलता और न जान कर भी क्या बिगड़ता? ज्ञानका स्वभाव है ऐसा कि सर्वको जाने बिना रह न सकेगा, यह उसके स्वभावकी बात है। पर हमें सारे विश्वको जाननेसे क्या प्रयोजन है? मैं ज्ञानरूप

रहूँ, जैसा मेरा विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है बस उसमें कल्पनायें न आयें, मलिनता न उठे, वैभाविक बात न बने। जैसा मैं सहज हूँ वैसा मैं सहज रहूँ, सारी आकुलताओंसे परे हो जाऊँ। यही मात्र एक भावना चले, अन्य किसी भी स्थितिकी कल्पना न आये, यह हम आप सबको युक्त है और कुछ बातें उठ जायें, कल्पना भी जग जाय, किसीका प्रतियोगी बन जाय, फिर भी श्रद्धान, संस्कार ऐसा ही होना चाहिए कि थोड़े ही समय बाद फिर अपनेको धिक्कारने लगें। मैं कहाँ विकल्पोंमें लग गया ? कहाँ परपदार्थके उपयोगमें चल बैठा ? मेरा यह काम नहीं। मेरा काम तो यही है वास्तविक कि जो मेरा सहज ज्ञानस्वरूप है उसके निकट रहूँ, उसको अनुभवमें लूँ। मैं तो सहज ज्ञानस्वरूप हूँ, कुछ कल्पना ही मेरे लिए बन्धन है, उसको छोड़कर स्वतंत्रतया जैसा सहज मैं हूँ वैसा ही मात्र रह जाऊँ, इससे मेरी भलाई है। इसके अतिरिक्त अन्य जो बातें, कल्पनायें जगती हैं उनसे मेरा वक्त्याण नहीं है, ऐसी बार-बार सावधानी जगे। असावधानी होती है, पर वह अधिक समय तक न रहे, फिर बार-बार प्रेरणा आये, ऐसी हमारी वृत्ति जगे तो आशा है कि हम संसार संकटसे दूर हो जायेंगे। और फिर जिसको ऐसी लौ लग गयी है, धुन बन गयी है, भीतरमें यह बात समा गई है कि ज्ञानका शुद्ध ज्ञानरूप बर्तना बस इतनेसे ही मेरा प्रयोजन है, यही मेरा स्वरूप है। ऐसी झलक जिसको आ गई है नियमसे वह भव्य है और नियमसे वह संसारसे पार हो जायगा। तो यही एक वास्तविक सारकी बात है कि हमारा ज्ञान अबद्ध रहे, बाह्य इष्ट अनिष्ट कल्पनाओं में न बंध जाय, चले कल्पनाओंमें तो फिर सावधान हो जायें। बार-बारकी सावधानी और ज्ञानस्वभावके निकट बननेका अभ्यास यह हमारे लिए हितरूप बात है।

नासिद्धं सिद्धदृष्टान्तात् एतद्दृष्टोपलब्धितः ।

शीतोष्णानुभव स्वस्मिन् न स्यात्तज्ज्ञेपरात्मनि ॥६६॥

अबद्ध ज्ञानमें मलिन अनुभूतिका अभाव—क्षायिक ज्ञान अबद्ध है और कल्याणमय है, यह बात कैसे समझी जाय ? उसके सम्बन्धमें इस श्लोकमें कहा जा रहा है कि क्षायिक ज्ञान अबद्ध है। वहाँ इष्ट अनिष्ट रूप बुद्धि नहीं होती। ज्ञानकी अबद्धता यही है कि इष्ट अनिष्ट रूप बुद्धिका न होना और बद्धता यही है इष्ट अनिष्टरूप बुद्धिका होना। वहाँ ज्ञानको रस्सी आदिक किसी पदार्थने जकड़ नहीं रखा है कि जिससे ज्ञानको बद्ध कहा जाय। इष्ट बुद्धि आये, अनिष्ट बुद्धि आये, यही तो ज्ञानका बन्धन है। क्षायिकज्ञानमें बन्धन नहीं है। वहाँ इष्ट बुद्धि और अनिष्ट बुद्धि नहीं चलती है। यह बात प्रमाणसिद्ध है। ज्ञान होना और बात है और इष्ट अनिष्ट बुद्धिका बनना और बात है। जैसे कि किसी पुरुषको बुखार चढ़ा हुआ है तो घरके लोग थर्मामीटर लगाकर उसके उस बुखारका ज्ञान करते हैं कि इसके बुखार १०३ डिग्री है या १०४ डिग्री है। तो उन लोगोंने उसके बुखारका ज्ञान

किया, और उस बुखारका ज्ञान उसे भी हो रहा है जिसके बुखार चढ़ा है तो देखिये एक तो बुखारका ज्ञान अन्य लोग कर रहे हैं और एक खुद कर रहा है जिसके बुखार चढ़ा है। तो बताइये उन दोनोंके ज्ञानमें अन्तर है कि नहीं? अन्तर है। क्योंकि जिसे बुखार है वह तो वष्टका अनुभव कर रहा है, आकुलित हो रहा है, विकल्प मचा रहा है, यों वह तो उस बुखारका अनुभव कर रहा है, पर अन्य लोग उसके बुखारका अनुभव नहीं करते। तो कष्ट भोगने का ज्ञान और कष्ट परिणतिका ज्ञान—इन दोनोंमें अन्तर है। तो क्षायिक ज्ञानमें कष्ट नहीं है, इष्ट अनिष्ट बुद्धि नहीं है इसलिए वह केवल जाननहार है और जो बद्ध ज्ञान है मोहकर्मसे आवृत है उनका ज्ञान मलिन है अतएव कष्टमें है। तो बद्ध ज्ञान और अबद्धज्ञान में यह अन्तर है।

ततः सिद्धः सुदृष्टान्तो मूर्तं ज्ञानद्वयं यथा ।

अस्त्यमूर्तोपि जीवात्मा बद्धः स्यान्मूर्तकर्मभिः ॥७०॥

सोदाहरण अमूर्त आत्माका मूर्त कर्मके साथ बन्ध हो सकनेका निर्णय—उक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि जो अभी मदिराका एक ज्वलंत उदाहरण दिया गया है कि मदिरापान करनेसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान बिगड़ गए हैं। पुरुषोंको प्रत्यक्ष देखा भी जा रहा है कि मदिरापायी पुरुष बेहोश रहता है, अटसट भी बकता है और उसे स्वहितका बोध नहीं रहता। तो इस उदाहरणसे यह बात भली प्रकार सिद्ध हो गई कि जैसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अमूर्त हैं फिर भी इस प्रसंगमें मूर्तादिक जैसे हो गए अथवा बँध गए, बिगड़ गए, उस मदिराके सम्बंध से इस ज्ञानमें कुछ प्रभाव पड़ा ही तो है, इसी प्रकार यह जीवात्मा भी अमूर्तिक है, फिर भी मूर्तिमान कर्मोंसे बँध जाता है और इस स्थितिमें यदि यह कह दिया जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है कि यह आत्मा मूर्त कर्मोंके निमित्तसे कथञ्चित् मूर्त हो जाता है और इस तरहसे मूर्त मान लेनेपर यह भी कहा जा सकता है कि संसार अवस्थामें इस मूर्त हुए आत्माके साथ मूर्तिमान कर्म बँध गए।

ननु बद्धत्वं किं नाम किमशुद्धत्वमर्थतः ।

वावदूकोथ संदिग्धो बोध्यः कश्चिदिति क्रमात् ॥७१॥

बद्धत्व व अशुद्धत्वके स्वरूपकी जिज्ञासा—अब यहाँ शंकाकारका एक प्रश्न हुआ है कि बताया गया है कि मूर्तिमान कर्मसे यह जीव बँध जाता है तो बँधनका अर्थ क्या है? जीव कर्मोंसे बँधा हुआ है—इसका अर्थ क्या होगा? याने बद्धता किसका नाम है तथा वास्तव में अशुद्धता भी कुछ होती है क्या? यह भी उक्त विवरणमें कहा गया है कि 'जीवमें अशुद्धता है', तो क्या जीवमें कोई अशुद्धता भी वास्तविक है? इस तरह दो प्रश्न किए गए हैं। यहाँ आचार्य महाराजसे यह शङ्का की गई है सो जो पुरुष तर्क कुतर्क उठाने वाला है, अधिक

बोलने वाला है उसका भी मिथ्या अभिप्राय दूर करना चाहिए अथवा जिसको इस तत्त्वमें कुछ संदेह हुआ है ऐसे संदिग्ध पुरुषका भी संशय मिटा देना चाहिए। तो यों चाहे कोई तर्क वितर्क करके प्रश्न कर रहा हो अथवा उसे वास्तवमें संदेह हुआ हो, हर स्थितिमें ऐसे श्रोतावोंका संशय दूर करना चाहिये। अर्थात् इन दो प्रश्नोंका समाधान कीजिए कि बद्धता किसका नाम है और आत्मामें वास्तविक अशुद्धता भी कुछ हो जाती है।

अर्थाद्वैभाविकी शक्तियाँ सा चेदुपयोगिनी ।

तद्गुणाकारसंक्रातिर्वन्धः स्यादन्यहेतुकः ॥७२॥

जीवके बद्धत्वका वर्णन—उक्त प्रश्नके समाधानरूपमें यह श्लोक आया है। आत्मा में अन्य गुणोंकी तरह एक वैभाविकी शक्ति भी है। यद्यपि शक्तियाँ सभी वस्तुस्वरूपकी सत्ताके लिए हैं, उसकी विशुद्धिके लिए हैं तथा शक्तियाँ स्वयं कोई भी विकारका स्वरूप नहीं रखती हैं, फिर भी यह वैभाविकी शक्ति जब उपयोगिनी होती है, विभाव अवस्थामें आने वाली होती है तब वहाँ आत्माके गुणोंकी संक्रान्ति हो जाती है अर्थात् जो आत्माके गुण हैं और आकार हैं उनकी बदल हो जाती है, गुण अपने स्वरूपसे च्युत हो जाते हैं। अर्थात् जो गुणका स्वरूप है और उनका शुद्ध कार्य है। उससे वह हट जाता है और यहाँ तक कि प्रदेशके आकारमें भी बदल हो जाती है। इस तरहका बंध हो जाता है। सो यह बंध अन्य उपाधिके कारणसे है। इस प्रकारका बंध होना आत्मामें वैभाविकी शक्तिके स्वभावसे नहीं है, किन्तु अन्य बंध कर्म उपाधिका सम्बन्ध है, तो कर्मविपाकमें इस प्रकारसे आत्माके गुणोंमें परिवर्तन हो जाता है। तो गुण भी बिगड़ा, आकार भी बिगड़ा, ऐसी स्थितिका नाम बंध कहलाता है। शङ्काकारके दो परिणामनोंमें से यहाँ स्पष्टरूपसे एक प्रश्न का उत्तर हुआ है कि बद्धताका अर्थ क्या है, पर इसके ही साथ दूसरे प्रश्नका भी उत्तर सहज हो जाता है, यही अशुद्धता है। आत्मा स्वभावसे जिस स्वरूपमें है उस स्वरूपमें न रहकर स्वभावरूप अपनी व्यक्ति न बनाकर जो एक विपरीत व्यवित होती है उस ही का नाम अशुद्धता है अथवा स्पष्ट रूपसे यों कह लीजिए कि वैभाविक शक्तिका परिणामन कर्मोदयका निमित्त पाकर, रागद्वेषका निमित्त पाकर ये सब विभाव परिणामन होते हैं। इसी को वैभाविकी शक्तिकी उपयोगिनी अवस्था कहते हैं। जब विभावरूप परिणामनेको होता है ऐसी उसमें योग्यता होती है, वही उपयोगिनी दशा कहलाती है। उस अवस्थामें आत्मा अपने स्वभावके अनुकूल व्यक्ति नहीं कर पाता है और रागद्वेषादिक विभावोंमें बँध जाता है और उन भावोंके कारण यह पराधीन हो जाता है, अपनेमें कष्ट और कायरताका अनुभव करता है, यही बंधका यथार्थ स्वरूप है।

तत्र बन्धे न हेतुः स्याच्छक्ति वैभाविकी परम् ।

नोपयोगोपि तत्किन्तु परायत्तं प्रयोजकम् ॥७३॥

वैभाविकी शक्तिकी व उसके उपयोगकी बन्धमें अहेतुता व परायत्तताकी बन्धमें प्रयोजकता—उक्त श्लोकमें बंधका कारण वैभाविकी शक्तिकी बताया है किन्तु बंधमें वैभाविकी शक्ति साक्षात् हेतु नहीं है और न उसका उपभोग भी बंधका कारण है, किन्तु पराधीनता बंधका प्रयोजक है । यदि वैभाविकी शक्ति ही बंधका कारण बन बैठे तो यह शक्ति तो नित्य है । जितनी भी शक्तियाँ होती हैं वस्तुमें वे सब उस वस्तुमें शाश्वत हैं । तो वैभाविकी शक्ति जब सदाकाल है तब सदा आत्मामें बंध होता रहेगा । आत्मा कभी युक्त हो ही न सकेगा, क्योंकि अब यहाँ वैभाविकी शक्तिकी बंधका कारण मान लिया है, अथवा जीव किसी प्रकार मुक्त भी हो गया तो वैभाविकी शक्ति तो सदा है । शुद्ध अवस्थामें भी जो जीव है उसके भी वैभाविकी शक्ति है तब वहाँ भी बंध होने लगेगा, इस कारण केवल शक्ति बंधका कारण नहीं है, ऐसा देखा भी नहीं गया, युक्ति भी नहीं बताती, और केवल उपयोग भी बंधका कारण नहीं है । उपयोग तो शक्तिके परिणामनका नाम है । उपयोग शक्तिकी स्वभावदशामें भी है और विभाव दशामें भी है । अर्थात् जब रागद्वेषरहित शुद्ध परिणामन हो रहा है वहाँ भी वैभाविकी शक्तिका परिणामन है, वह स्वभावरूप है और जब रागद्वेषरूप परिणामन हो रहा है उस समय भी वैभाविकी शक्तिका उपयोग है तो उपयोगको भी बंधका कारण नहीं कह सकते हैं । क्योंकि उपयोग भी निरन्तर रहता है । शुद्ध अवस्थामें भी परिणामन तो है ही । वहाँ तो बंध नहीं होता । इससे सिद्ध है कि न तो वैभाविकी शक्ति बंधका कारण है और न उसका उपयोग, अर्थात् परिणामन बंधका कारण है, किन्तु बंधका कारण क्या है ? पुद्गल कर्मके निमित्तसे जो वैभाविक शक्तिका विभावरूप उपयोग है बस वही बंधका कारण है तो ऐसा कहनेमें मुख्य बात यह आयी कि बंधके कारणमें पुद्गलकी मुख्यता है, उपाधिकी मुख्यता है । जीवमें वैभाविकी शक्ति तो है, पर पुद्गलका सम्बन्ध हो, उपाधिका सन्निधान हो, उस प्रकारका निमित्त योग हो तो वैभाविकी शक्तिका विभावरूप उपयोग होता है ।

अस्ति वैभाविकी शक्तिस्तत्तद्द्रव्योपजीविनी ।

सा चेद्वन्धस्य हेतुः स्यादर्थान्मुक्तेरसंभवः ॥७४॥

वैभाविकी नामक उपजीविनी शक्तिकी बन्धहेतु माननेपर मुक्तिकी असंभवताका प्रसङ्ग—वैभाविकी शक्ति जीव और पुद्गलकी उपजीविनी शक्ति है अर्थात् उपजीवी गुण है । उपजीविनीका अर्थ है कि जो गुण भावरूप हो, जैसे जीवमें ज्ञान, सुख, दर्शन, शक्ति, आनन्द, अस्तित्व, वस्तुत्व आदिक अनेक गुण उपजीवी हैं, सद्भावात्मक है तो जिस तरह ये गुण उपजीवी गुण हैं उसी तरह वैभाविक गुण भी उपजीवी गुण हैं । ज्ञानादिक शक्तियों



की भाँति वैभाविक शक्ति भी सद्भावात्मक शक्ति है। तो जीवमें और पुद्गलमें जो वैभाविकी शक्ति है वह उपजीविनी शक्ति है। अब यहाँ विचार कीजिए कि यदि उपजीवी गुण भी बंधका कारण बन जाय तो इसका अर्थ यह हुआ कि मुक्ति असम्भव है। किसी प्रकार मुक्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि जीवकी सत्ताका हेतुभूत जो भी गुण है वह गुण ही अब बंधका कारण मान लिया गया है और वह हमारे रहता है सदा काल। गुण द्रव्यकी सत्ताके लिए है, लेकिन गुण हो गया बंधके लिए तो जैसे जीवकी सत्ता सदा काल रहती है उसी प्रकार बंध भी सदा काल रहेगा, क्योंकि बंधको यहां स्वगुण निमित्तक मान लिया गया है। यह उपजीवी गुणोंकी बात है। तो उपजीवी गुणोंका प्रतिपक्षी है प्रतिजीवी गुण और प्रतिजीवी गुणका स्वरूप समझ लेनेसे उपजीवी गुणका स्वरूप और स्पष्ट समझमें आयागा। कुछ गुण कहलाते हैं प्रतिजीवी गुण कि जो गुण भावरूप नहीं हैं किन्तु केवल कर्मोंके निमित्तसे होने वाली अवस्थाके दूर हो जानेसे प्रकट हो गए हों उन्हें प्रतिजीवी गुण कहते हैं। जैसे जीवमें एक अगुरुलघुत्व गुण प्रकट होता है। सिद्ध भगवानके अष्टगुणोंमें एक अगुरुलघुत्व गुण भी आता है, जिसका अर्थ है कि अब वे बड़े हैं न छोटे। न गुरु रहे, न लघु। यह अगुरुलघुत्व गुण उपजीवी गुण नहीं है। जीवमें कोई सद्भावात्मक सत्ता रखने वाला नहीं है। पदार्थ है, स्वरूपसे जैसा है सो है, उसको क्या गुरु कहा जाय और क्या लघु? यदि पदार्थकी सत्ताकी ओरसे निरखा जाय तो जैसे अणु वैसे ही सिद्ध वैसे ही धर्मादिक द्रव्य। सब अपने अपनेमें अपना स्वरूप रख रहे हैं। अगुरुलघुत्वकी बात ही क्या है किन्तु छद्मस्थ अवस्थामें, संसार अवस्थामें गोत्रकर्मके उदयसे यह जीव कभी उच्च कुलमें आता था, कभी नीच कुलमें आता था। तो यहाँ गुरु लघुका व्यपदेश चल रहा था, कभी गुरु हुआ कभी लघु, ऊँच नीच हो रहा था। जब गोत्रकर्मका अभाव हो गया तो गोत्रकर्मके क्षय हो जानेसे अब गुरु लघुपना जो हो रहा था वह कुछ न होगा। तो यों यह अगुरुलघुत्व जीवका प्रतिजीवी गुण हुआ, इसी प्रकार सूक्ष्मत्व, अव्यावाधत्व आदि प्रतिजीवी गुणोंको भी समझ लेना चाहिये।

उपयोगः स्यादभिव्यक्तिः शक्तेः स्वार्थाधिकारिणी ।

सैव बन्धस्य हेतुश्चत् सर्वो बन्धः समस्यताम् ॥७५॥

वैभाविकी शक्तिके उपयोगमें भी बन्धकी अहेतुता—वैभाविकी शक्ति जिस प्रकार बंधका कारण नहीं है, क्योंकि यदि वैभाविकी शक्ति बंधका कारण हो जाय तो शक्ति तो उपजीवी गुण है, जीवमें सदा काल रहती है। सो मुक्त जीव भी हो जाय तब वहाँ भी बंध होने लगेगा, यह अनिष्ट प्रसङ्ग आता है। इस कारण वैभाविकी शक्ति बंधका कारण नहीं है। इसी प्रकार वैभाविकी शक्तिका उपयोग भी बंधका कारण नहीं है। उपयोगका अर्थ है शक्तिके अपने अर्थका, अपने विषयका अधिकार रखने वाली अभिव्यक्ति याने शक्तिके स्वरूपा-

त्मक जो व्यक्ति है उसका नाम उपयोग है। उपयोगका यहाँ सामान्यतया अर्थ है परिणामन। शक्तिकी जो व्यञ्जना है, परिणामन है, व्यक्तरूप है उसका नाम उपयोग है। तो शक्तिका व्यक्तरूप यदि बंधका कारण बन जाय तो प्रत्येक शक्तिका व्यक्तरूप तो होता ही है। शुद्ध अवस्था में भी वैभाविकी शक्तिका कोई न कोई व्यक्तरूप है ही। वह है स्वभावपरिणामन। तो वहाँ ऐसा स्वभावपरिणामन बंधका कारण तो नहीं होता। तो बंधका कारण न तो वैभाविकी शक्ति है और न वैभाविकी शक्तिका उपयोग है। बंधका कारण तो कुछ और ही है। क्या है इस अमूर्त आत्माके साथ मूर्त कर्मके बंधका कारण, इसी बातको अगली गाथामें स्पष्ट करते हैं।

तस्मात्तद्धेतुसामग्री सान्निध्ये तद्गुणाकृतिः ।

स्वाकारस्य परायत्ता तथा बद्धोऽपराधवान् ॥७६॥

उपाधिसान्निध्य, स्वकीय अपराध व परायत्ताकी बन्धहेतुता—बंधका कारण-कलाप मिल जाने पर जो आत्माके गुणोंका जो बदल है, स्वरूप अवस्थाको छोड़कर विपरीत अवस्था में आना है अथवा अपने आकारकी पराधीनता है वही बंध है और उस बंधसे यह अपराधी होता हुआ जीव स्वयं बद्ध हो जाता है। इसका सारांश यह है कि जब बंधके कारणकूट मिल जाते हैं, योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कर्म विपाक आदिक तो यह स्वयं अपराधी आत्मा परतंत्र होता हुआ बंध जाता है। इसमें अपराधी आत्माको ही कहा जायगा, क्योंकि यह ऐसा संस्कार लिए हुए है, अज्ञानभावमें है, अशुद्ध स्थितिमें चल रहा है कि यही उसका अपराध है। अपराधका अर्थ है जो राधसे अप हो गया है। “अप” के मायने हैं अपगत, जो राध अर्थात् सिद्धिसे अपगत है, दूर है, वहिर्गत है, भ्रष्ट है वह भाव अपराध है। राधा और सिद्धि दोनोंका एक ही अर्थ है, क्योंकि “राधु संसिद्धौ” धातुसे राधा शब्द बना है। तो जो आत्मसिद्धिसे च्युत है ऐसे परिणामको अपराध कहते हैं और यह अपराध जिन जीवों के पड़ा हुआ है अर्थात् अपनी आत्मोपलब्धिसे जो पतित है वह जीव अपराधी कहलाता है। ऐसा अपराधी यह आत्मा बंधके कारणकूट मिलनेपर स्वयं बंध जाता है और वहाँ बंधन यही है कि आत्माके गुणोंकी अवस्था बदल जाती है, अर्थात् सहजशक्तिके कारण जो सहज कार्य होना चाहिये था गुणोंका वह सहज कार्य नहीं होता, अर्थात् अपने गुणोंसे च्युत हो जाता है।

नासिद्धं तत्परायत्तं सिद्धसंदृष्टितो यथा ।

शीतमृष्णमिवात्मानं कुर्वन्नात्माप्यनात्मवित् ॥७७॥

पराधीनदशामें जीवकी पराधीनताकी सिद्धि—उक्त श्लोकमें यह बताया है कि यह जीव स्वयं अपराधी होता हुआ बंधके हेतुओंके मिल जानेपर बंध जाता है, अपराधी हो जाता है। उसके सम्बंधमें इस श्लोकमें यह बता रहे हैं कि संसारी आत्मा कर्मके आधीन है, परतंत्र

हुआ है—यह बात असिद्ध नहीं है, किन्तु दृष्टान्तसे भली भाँति सिद्ध है। देखिये—जौ आत्म-तत्त्वको नहीं जान रहा है, शरीरमें ही आत्मबुद्धि किए हुए है ऐसा व्यामोही पुरुष ठंडके दिनोंमें किसी ठंडी चीजका स्पर्श करता है तो स्पर्श तो शरीर करता है, मगर वह कहता है कि मुझे ठंड लग रही है, अथवा गर्मीके दिनोंमें जब लू लगती है तो लू तो लगती है शरीरमें पर वह कहता है कि मैं गर्म हो गया हूँ। तो जिस समय यह आत्मा ठंडी या गर्मीका अनुभव करने लगता है उस समय यह मूढ़ व्यामोही जीव अपने आत्माको ही ठंडा और गर्म समझने लगता है। तो यह मूढ़ता कैसे हुई? ऐसी समझ तो न बननी चाहिये थी, आत्माके ही गुणोंमें जो क्रिया हो सकती है वही क्रिया आत्मामें हो रही है ऐसा अनुभव रहना चाहिए था, ज्ञान गुण बर्त रहा है तो जाननेकी बात मानता यह और ऐसा ही अनुभव करता, यह तो सही ढंग था, लेकिन जो बात जीवमें है ही नहीं, शीत, उष्ण, स्पर्श आदिक जीवमें होते ही नहीं और उनरूप अपनेको अनुभव कर रहा है तो यही तो सिद्ध कर रहा कि कोई विकट पराधीनता ऐसी है कि जिससे यह मूढ़ता बढ़ गई है और अपने आपको ठंडा गर्म आदि अनुभवने लगा है, जीव इन बाह्य वस्तुवोके परतंत्र अपनेको समझता है। जैसे घरमें कोई बड़ा पुरुष है और वह शासन करता है तो बच्चे लोग अपनेको पराधीन मानते हैं कि मुझमें तो बड़ी पराधीनता है; पिता जिस तरह रखे रहना पड़ता है आदिक रूपमें जीव अपनेको पराधीन समझता है। मगर मूलमें पराधीनता तो देखिये—जहाँ बुद्धि ही बिगड़ गई, जैसा पदार्थ है वैसा न मानकर उससे विपरीत अनुभवनेकी बात जो लग गई है, यह कितनी विकट पराधीनता है और ऐसा होनेमें कितना विकट कोई कारण साथ लगा हुआ है, उस अपराधको देखिये—तो यह जीव अपराधी है यह बात स्पष्ट समझमें आ रही है।

तद्यथा मूर्तद्रव्यस्य शीतश्चोष्णो गुणोखिलः ।

आत्मनश्चाप्यमूर्तस्य शीतोष्णानुभवः क्वचित् ॥७८॥

जीवकी परायत्तताके उदाहरणका स्पष्टीकरण—शीत और उष्ण ये दोनों गुण मूर्त पुद्गल पदार्थके हैं। सिद्धान्त शास्त्रमें कहा गया है और हमारे ये सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी बता रहे हैं कि ये शीत उष्ण आदिक पुद्गल द्रव्यमें हुआ करते हैं। जितनी भी स्पर्शकी पर्यायें हैं वे सभी पुद्गलमें हैं। जो रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला हो उसे पुद्गल कहते हैं। पुद्गलका लक्षण ही मूर्तता है। तो जैसे काला पीला आदिक रूप पुद्गलमें ही पाये जाते हैं, गंध, दुर्गन्ध, सुगन्ध पुद्गलमें ही पाये जाते हैं, अथवा खट्टा, मीठा आदिक रस पुद्गलमें ही पाये जा सकते हैं इसी प्रकार रूखा, चिकना, ठंडा, गर्म आदिक स्पर्श भी पुद्गलमें ही पाये जाते हैं। तो हैं तो पुद्गलके ये गुण, पुद्गलकी पर्याय, पर किसी-किसी आत्मामें इन शीत उष्ण आदिक पर्यायोंका अनुभव चलने लगता है। यद्यपि यह बात त्रिकाल असम्भव है कि जीव ठंडा अथवा

गर्म बन जाय । जो गुण जिस द्रव्यमें नहीं है वह द्रव्य उस गुणरूप कभी हो नहीं सकता । लेकिन यह अज्ञानी व्यामोही जीव अपने आपका अनुभव तो ऐसा ही कर रहा है कि मैं ठंडा हो गया, मैं गर्म हो गया । मुझे विकट गर्मी लग रही...., तो भला इस संकटका भी तो अंदाज करो कि गर्म तो हो रहा शरीर और वह व्यामोही अपने आपको गर्म अनुभव कर रहा । यह क्या कम विपत्ति है ? अपने स्वरूपसे चिगकर विकार रूपमें आना, उल्टे ढंग में चलने लगना, यह तो जीवपर महान संकट है, और इसमें बड़ी परतंत्रता बसी हुई है । तो जीव परतंत्र है—यह बात असिद्ध नहीं है किन्तु इस दृष्टान्तसे भली प्रकार सिद्ध है । देखिये ना—आत्मा यद्यपि अमूर्त है, उसमें न शीतपरिणामन हो सकता, न उष्ण परिणामन हो सकता, किन्तु कर्मविपाक इस भाँतिके हैं कि जिनका निमित्त पाकर यह आत्मा अपने आपको ठंडा मान लेता है और गर्म मान लेता है । तो उल्टी मान्यतामें बढ़ जाना यह जीवकी परतंत्रता ही तो है ।

ननु वैभाविकी शक्तिस्तथा स्यादन्ययोगतः ।

परयोगाद्विना किं न स्याद्वास्ति तथान्यथा ॥७६॥

वैभाविकी शक्तिकी परिणामनविधि व सत्ताके विषयमें शंकाकारकी आशङ्कयें—अब यहाँ शंकाकार अपनी शंका रख रहा है । क्या वैभाविकी शक्तिका जो इस तरह परिणामन हुआ है विभावरूप सो दूसरेके निमित्तसे ही हुआ या दूसरेके निमित्तके बिना होता ही नहीं है ? शंका इन दोनों रूपोंमें एक ही है, उसको बड़ी दृढ़ताके साथ रखा जा रहा है । जीवमें जो रागद्वेषादिक परिणामन होते हैं और इस तरहसे जो विभावशक्तिरूप परिणाम जाते हैं तो क्या ये अन्य पदार्थोंके योगसे ही परिणामते हैं ? याने अन्य पदार्थोंके योग बिना विभावरूप परिणामन होता ही नहीं है क्या ? दूसरी शंका यह रखी जा रही कि क्या वहाँ ऐसी भी बात है कि वैभाविकी शक्ति वास्तवमें नहीं है ? अथवा क्या वैभाविकी शक्ति वहाँ वास्तवमें है ? इन शंकाओंमें दो प्रसंग वाली शंकायें हैं । एक तो यह कि वैभाविकी शक्तिका विभाव-परिणामन क्या कर्मके उदयमें ही होता है ? कर्मोंके उदय बिना नहीं होता है ? एक तो यह आशंका है । दूसरी आशंका यह की गई कि क्या वैभाविकी शक्ति वास्तवमें है या नहीं ? इन शंकाओंका कोई आधार शंकाकारने समझा है । ज्ञान ज्ञेय का निमित्त पाकर ज्ञेयाकार रूप परिणाम जाता है तो ज्ञानकी स्वच्छता तो ज्ञानका स्वरूप था । अब वह नाना ज्ञेयोंके विकल्परूप, ग्रहरूप जो परिणाम रहा है यह भी विभाव कहला सकता होगा ? ऐसी कुछ बात चित्तमें रखकर पूछ रहा है कि वैभाविकी शक्तिका विभाव-परिणामन क्या निमित्तके योगमें ही होता है अथवा प्रत्येक पदार्थका परिणामन उस ही पदार्थमें होता है, उसका षट्कारकपना उसीके साथ हुआ करता है, ऐसी बात भी रखकर

आशंका शंकाकारके चित्तमें उठी हो कि जब प्रत्येक पदार्थका परिणामन स्वयंकी षट्कारिकीय व्यवस्थामें है तो वैभाविकी शक्तिका यह विभावपरिणामन क्या परपदार्थके कारणसे हो गया है ? कुछ भी चित्तमें हो, शंकाकारकी यहाँ यह आशंका है कि विभावशक्तिका परिणामन क्या निमित्तके योगसे होता है ? निमित्त योग बिना नहीं भी होता है क्या ? दूसरी आशंका रखी गई है कि वैभाविकी शक्ति है अथवा नहीं ? इसमें भी शंकाकारने कोई आधार समझा ही होगा । प्रत्येक पदार्थमें परिणामन होते ही रहते हैं । तो परिणामन इसमें भी चला । इसमें फिर अन्य पदार्थोंसे अलग शक्ति माननेकी आवश्यकता क्या हुई ? अथवा वैभाविकी शक्ति यदि है तो सदा विभाव नहीं हुआ करता । नाम जब वैभाविकी शक्ति रखा है तो उसका कार्य भी तो यही होना चाहिए कि विभाव बना रहे, और इस व्युत्पत्तिसे वैभाविकी शक्तिका स्वभाव विभाव हो बैठेगा, आदिक बातोंकी उल्लंघनसे यह आशंका बनती है कि है भी वैभाविकी शक्ति जीवमें या नहीं ? अब इन शंकाओंका समाधान किया जा रहा है ।

सत्यं नित्या तथा शक्तिः शक्तित्वाच्छुद्धशक्तित्वम् ।

अथान्यथा सतो नाशः शक्तीनां नाशतः क्रमात् ॥८०॥

वैभाविकी शक्तिके अस्तित्वकी आशङ्काका समाधान—उक्त दोनों शंकाओंका उत्तर देनेके लिए यहाँ यह आवश्यक समझा गया है कि दूसरी शंकाका उत्तर पहिले दिया जाय । वैभाविकी शक्ति वास्तवमें है या नहीं, इसका उत्तर पहिले हो जानेसे फिर यह उत्तर आसान हो सकेगा कि अन्य पदार्थोंके निमित्तसे वैभाविकी शक्तिका परिणामन विभावरूप हो जाता है । तब यहाँ उत्तर दिया जा रहा है कि वैभाविकी शक्ति वास्तवमें है और वह नित्य है, शक्ति होनेसे । जितनी भी शक्तियाँ होती हैं वे सब नित्य हुआ करती हैं । आत्माकी जैसे ज्ञान दर्शन आदिक अनेक शुद्ध शक्तियाँ हैं और वे नित्य हैं इसी प्रकार जीवमें जो वैभाविकी शक्ति है वह शक्ति भी शुद्ध शक्ति है और नित्य है । शुद्ध शक्तिका अर्थ यह है कि शक्तिका जो स्वरूप है वह स्वयं शक्तिमानके बिगाड़के लिए नहीं हुआ करता, अन्यथा स्वरूप ही न बन सकेगा । तो वैभाविकी शक्ति भी अन्य शक्तियोंकी तरह उपजीवी गुण है और शुद्ध शक्ति है, इसी कारणसे वह शक्ति नित्य है । यदि वैभाविकी शक्तिको नित्य न माना जाय तब तो आत्माका ही अभाव हो जायगा, क्योंकि किसी भी शक्तिके अभाव होनेपर शक्तिमानका अभाव हो जायगा । इसका कारण यह है कि शक्तियोंका ही बिगाड़ तो पदार्थ है, अथवा उस पदार्थ में जो पदार्थके अनुरूप शक्तियाँ समझी गई हैं तो पदार्थकी अनुरूपता तब ही तो कहलायगी कि पदार्थ जब नित्य है तो ये समस्त शक्तियाँ भी नित्य हों । यदि उनमेंसे किसी भी शक्ति का अभाव किसी समय मान लिया जायगा तो वहाँ सत् पदार्थका ही विनाश हो जायगा, और इस तरह मान लो एक शक्ति गायब हुई, किसी समय दूसरी भी गायब हो जायगी तो

पदार्थ ही नष्ट हो जायगा । प्रथम तो बात यह है कि एक शक्तिका अभाव उस ही शक्तिमान का अभाव है, और फिर शक्तियोंका अभाव यों होता जाय तो शक्तियोंके नाशसे शक्तिमान का अभाव होना अवश्यभावी है ।

किन्तु तस्यास्तथा भावः शुद्धादन्योन्यहेतुकः ।

तन्निमित्ताद्विना शुद्धो भावः स्यात्केवलं स्वतः ॥८१॥

वैभाविकी शक्तिकी परिणामनविधिकी आशङ्काका समाधान—जीवमें जो अशुद्धता और बंध होता है उसका कारण क्या है ? इस सम्बन्धमें चर्चा चल रही है । शंकाकारकी यह शंका थी कि क्या वैभाविकी शक्तिका परिणामन दूसरेके निमित्तसे ही होता है अथवा वैभाविकी शक्ति आत्मामें है या नहीं है ? उसके उत्तरमें उक्त श्लोकमें यह बताया गया था कि जीवमें वैभाविकी नामक शक्ति है और वह नित्य है, किन्तु वह शक्ति स्वयं अन्य शुद्ध शक्तियों की तरह विकार भाव नहीं करती । तब होता क्या है—इस बातको इस श्लोकमें बताया जा रहा है । उस वैभाविकी शक्तिमें जो एक अशुद्ध अवस्था प्रकट हो जाती है वह वैभाविकी शक्तिके शुद्धस्वभावसे नहीं किन्तु दूसरेके निमित्तसे होती है । जब उसका निमित्त नहीं रहता, तब उस शक्ति की शुद्ध अवस्था हो जाती है । इसका सारांश यह है कि जीवमें वैभाविकी शक्ति है और वह नित्य है और उसके परिणामन दो प्रकारके होते हैं—विभावपरिणामन और स्वभावपरिणामन । जब उपाधिका संयोग है, योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का योग है तब उस प्रकार जीवमें विभावरूप परिणामन होता है, और जब उपाधि नहीं रहती है तो परउपाधिके अभावमें शक्तियां स्वयं स्वभावरूपसे परिणत होती ही हैं । यह वैभाविकी शक्ति भी स्वभावरूपमें परिणत हो रही है । अर्थात् जीवकी फिर शुद्ध अवस्था होती है तो यों वैभाविकी शक्ति बंधका कारण नहीं हुई और न वैभाविकी शक्तिका उपयोग बंधका कारण हुआ, किन्तु परउपाधिके सम्बन्धमें ये विकार हुआ करते हैं, सो परनिमित्तके कारण वैभाविकी शक्तिका विभावपरिणामन बना, पर निमित्त न रहेगा तो इसका स्वभावपरिणामन होगा, इसी बातको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है ।

नासिद्धोसौ हि सिद्धान्तः सिद्ध संदृष्टितो यथा ।

वन्हियोगाज्जलं चोष्णं शीतं तत्तदयोगतः ॥८२॥

वैभाविकी शक्तिकी विभावपरिणतिकी अन्ययोगहेतुकताकी सोदाहरणसिद्धि—अन्य निमित्तसे वैभाविकी शक्तिका विभावपरिणामन होता है—यह बात उक्त श्लोकमें कही गई है और यह भी दिखाया गया है कि निमित्तके अभावमें शक्तिका स्वभावपरिणामन हो जाता है, तो यह एक सिद्धान्त बना कि उपाधिके सम्बंधसे वैभाविकी शक्तिका विभावपरिणामन होता है अर्थात् रागद्वेषादिक रूप परिणामन होता है और उपाधिके क्षयसे उपाधिके अभावमें वैभाविकी

शक्ति आत्मस्वभाव अवस्थारूप परिणामने लगती है। इस सिद्धान्तकी सिद्धि दृष्टान्त द्वारा की जा रही है। अग्निका निमित्त पाकर जल गर्म हो जाता है और अग्निके निमित्त बिना जल अपनी शीत अवस्थामें रहता है। यहाँ यह बात भी समझ लीजिए कि यद्यपि जल द्रव्य नहीं और ठंडा होना उसका स्वभाव नहीं तथापि जितने अंशके लिए दृष्टान्त दिया गया है उतनी ही बात दृष्टिमें रखकर यहाँ उत्तर देना है। जलका स्वभाव ठंडा माना गया है लोकरूढ़िमें व दृष्टान्तमें। तो जल स्वभावसे किसरूप रहना चाहिए? ठंडा स्वभाव रहना चाहिए क्या यह भी कहा जा सकता कि जल स्वभावसे गर्म भी रहना चाहिये? यह नहीं कहा जाता। तो अब इसका अर्थ यह हुआ कि जलमें स्वभावसे क्या सामर्थ्य है? उत्तर मिलेगा कि जलमें स्वभावतः ठंडेपनका सामर्थ्य है। क्या यह कहा जायगा कि जलमें स्वभावतः गर्म होनेका सामर्थ्य है? तो इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि स्वभावदृष्टिसे निरखा जाय तो जलमें गर्म होने का सामर्थ्य नहीं है। यद्यपि व्यवहारदृष्टिसे यह कहा जा सकेगा कि जलमें गर्म होनेका सामर्थ्य है तब तो अग्निका संयोग पाकर जल गर्म हो गया। जहाँ गर्म होनेका सामर्थ्य न हो वह कितने ही निमित्त पा ले, पर उस रूप न बन सकेगा। यह बात व्यवहारदृष्टिसे कही जा सकती है। पर उसका अर्थ इतना ही है कि जलमें स्वभाव तो ठंडा होनेका है और स्वभावतः जलमें गर्म होनेका सामर्थ्य नहीं है। लेकिन जलमें ऐसी योग्यता होती है कि उपाधि अग्निके सम्बन्धसे जल गर्म अवस्थामें आ जाता है। तब इस स्थितिमें सामर्थ्य और योग्यता इन दोनों में अर्थभेद हो गया। सामर्थ्य तो स्वभावकी ओर संकेत करेगी और योग्यता स्वभाव विभाव दोनोंकी ओर संकेत करेगी, और तब यों कहा जायगा कि विभावरूपसे बँध जानेका सामर्थ्य पर्यायगत सामर्थ्य है, द्रव्यगत सामर्थ्य नहीं है।

पर्यायगत योग्यता व द्रव्यगत सामर्थ्यका सोदाहरण विश्लेषण—अगर पूछा जाय कि बताओ एक परमाणुमें एक मन बोझ लाद सकनेकी शक्ति है कि नहीं? तो उत्तर यही होगा कि नहीं। इसका अर्थ क्या हुआ कि एक परमाणुमें एक मन बोझ लादे रहनेका सामर्थ्य नहीं है। अच्छा ऐसे अनन्त परमाणु जब चौकी, टैक्स, बेंच आदिक रूपमें आ गए तो अब बतलाओ कि इनमें एक मन बोझको सभूले रहनेका सामर्थ्य है या नहीं? उत्तर होगा कि सामर्थ्य तो है। तो एक परमाणुमें नहीं, दूसरे परमाणुमें नहीं। यों चलते जाइये उन अनन्त परमाणुओंमें, यह उत्तर आयगा कि बोझ लादनेका सामर्थ्य नहीं, तो फिर यह सामर्थ्य कहाँ से आ गया? तब यहाँ सामर्थ्य और योग्यता ये दो विभाग करके उत्तर दिया जायगा। जब ये सब परमाणु एक चौकी रूपके स्कंधमें आ गए तो इस पर्यायके पानेपर योग्यता हुई कि मन भर बोझ लाद ले। तब व्यवहारदृष्टिसे यह भी कहा जायगा कि अगर मन भर बोझ लादने की सामर्थ्य एक परमाणुमें नहीं है, यों सभी परमाणुओंमें नहीं है तो फिर कभी भी बोझ

नहीं लाद सकता, पर यह उत्तर एक पर्यायगत सामर्थ्यकी दृष्टिसे है। तो इसी प्रकार यहाँ भी बात समझिये कि वैभाविकी शक्ति अथवा अन्य भी कोई शक्ति विकार बनानेका सामर्थ्य नहीं रखता है। फिर उसमें क्या सामर्थ्य है? उसमें सामर्थ्य है शुद्ध स्वभावरूपसे परिणामनेका, लेकिन अशुद्ध अवस्थामें योग्यता ऐसी हुई जीवमें कि उन शक्तियोंका विभावपरिणामन होता है। तो यही बात यहाँ कही जा रही है कि उपाधिका संयोग पाकर वैभाविकी शक्तिका विभावपरिणामन होता है। न तो वैभाविकी शक्ति बंधका कारण है, न उपयोग बंधका कारण है, पर उपाधिके संयोगमें ऐसी योग्यता हो गयी कि बंधका कारण बन जाता है।

ननु चैवं चैका शक्तिस्तद्भावावो द्विविधो भवेत् ।

एकः स्वभाविको भावो भावो वैभाविकोऽपरः ॥८३॥

चेदवश्यं हि द्वे शक्ती सतः स्तः का क्षतिः सताम् ।

स्वाभाविकी स्वभावैः स्वैः स्वैर्विभावैर्विभावजा ॥८४॥

सद्भावेथाप्यसद्भावे कर्मणा पुद्गलात्मनाम् ।

अस्तु स्वभाविकी शक्तिः शुद्धैर्भावावैर्विराजिता ॥८५॥

अस्तु वैभाविकी शक्तिः संयोगात्पारिणामिकी ।

कर्मणामुदयाभावे न स्यात्सा पारिणामिकी ॥८६॥

दण्डयोगाद्यथा चक्रं बम्भ्रमत्यात्मनात्मनि ।

दण्डयोगाद्विना चक्रं त्रिचक्रं वा व्यवतिष्ठते ॥८७॥

**स्वभाविकी शक्ति व वैभाविकी शक्ति इन दोनोंको मान लेनेका शंकाकारका कथन—**

यहाँ शंकाकार कहता है कि उक्त विवेचनसे तो यह सिद्धान्त बना कि शक्ति तो वैभाविकी नामक एक है और उसके परिणामन दो प्रकारके हैं—विभावपरिणामन और स्वभावपरिणामन। एक तो है विभाव रागद्वेषरूपकी दशा, दूसरी है अनंत ज्ञान दर्शन आदिक स्वाभाविक अवस्था, ऐसा मान लिया गया है। तो जब यहाँ उसकी दो योग्यतायें मान लीं, शक्ति मान ली, परिणामन मान लिए गए कि विभावपरिणामन होता और स्वभावपरिणामन होता तब यहाँ दो शक्तियाँ ही क्यों नहीं मान ली जातीं कि जीवमें वैभाविकी शक्ति है और स्वाभाविकी शक्ति है? स्वाभाविकी शक्ति तो अपने स्वभावसे बनती है, अपने स्वभावरूपसे परिणामती है, वैभाविकी शक्ति विभावसे बनी, ऐसी दो शक्तियाँ मान लेना चाहिए—स्वाभाविकी शक्ति और वैभाविकी शक्ति और उनका काम भी अपने जुदे-जुदे हो गए। स्वाभाविकी शक्ति तो स्वभावपरिणामन कर देगी, वैभाविकी शक्ति विभावपरिणामन कर देगी, और ऐसा यहाँ चल भी रहा है। देखिये—पौद्गलिक कर्म हों अथवा न हों, स्वाभाविकी शक्ति तो सदा ही शुद्ध जीवोंमें प्रयोजित शाश्वत है। जब विभावपरिणामन हो रहे हों तब भी जीवमें स्वाभाविकी शक्ति है,



और जब विभावपरिणामन न हो तब भी जीवमें स्वभाविकी शक्ति है । जब विभावपरिणामन हो रहे हो तब भी जीवमें स्वाभाविकी शक्ति है, क्योंकि शक्तियाँ सब नित्य मानी गयी हैं । तो स्वाभाविकी शक्ति सदा काल रहती है, विभावपरिणामन हो तब भी है, विभावपरिणामन न हो तब भी है और कुछ ऐसा भी जान लिया जा सकता है कि स्वाभाविकी शक्ति तो शुद्ध अवस्थामें पूर्णरूपसे काम कर रही है । जहाँ घनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द आदिक शुद्ध दशायें प्रकट हो गयी हैं वहाँ तो स्वाभाविकी शक्तिका पूर्ण सामर्थ्य विकसित हो गया है, पर उससे पहिले जितने अंशोंमें स्वभावपरिणामन हो रहा है, शुद्ध भाव बन रहे हैं उतने अंशोंमें स्वाभाविकी शक्ति यहाँ काम कर रही है अथवा जहाँ मान लो विभाव विशेष परिणाम रहा है, स्वभावका आवरण हो गया है तो मान लीजिए कि वहाँ विभावशक्तिका परिणामन चल रहा है, पर शक्तियाँ तो नित्य हैं, सदा काल रहती हैं । कभी कोई शक्ति अपना अनुकूल साधन पाये तो काम कर लेती है, अनुकूल साधन न पाये तो शान्त रहती है । तो शक्तियाँ तो दो मान लेनी चाहिए—स्वाभाविकी शक्ति और वैभाविकी शक्ति । शंकाकार अपनी ये सब आशंकायें रख रहा है ।

वैभाविकी शक्तिके पारिणामिकी व'अपारिणामिकी होनेका शंकाकार द्वारा कथन—  
अब आगे वैभाविकी शक्तिकी बात देखो—वैभाविकी शक्ति भी जीवमें सदा काल नित्य है, रहती है । जब वहाँ कर्म उपाधिका संयोग होता है तो वैभाविकी शक्ति अपना परिणामन करने लगती है । वैभाविकी शक्तिका परिणामन है रागद्वेषादिकरूप परिणामन और जब उपाधिकर्म का उदय नहीं रहता है तब वह परिणामन नहीं कर रही है । इसमें आश्चर्य न करना चाहिए कि उपाधिका सन्निधान न हो तो शक्ति परिणामन न करे । ऐसा कैसे हो जाता है ? देखो अनेक दृष्टान्त ऐसे मिलेंगे कि जब निमित्तका सम्बन्ध होता है तब वह पदार्थ काम करने लगता है और जब निमित्तका सम्बन्ध नहीं रहता है तो वह पदार्थ काम नहीं करता है । जैसे घड़ा बनाने वाला कुम्हार चक्रको दण्डसे चलाता है जिस चक्र पर मृत्पिण्ड रखा जाता है, उस मृत्पिण्डको पसारा जाता है तो चक्र घूमते हुए की अवस्थामें उस पिण्डके पसरनेकी बात बनती है । तो चक्रको घुमाता है वह दंडके सम्बन्धसे तो दंडके सम्बन्धसे चक्र घूम रहा है और घूम रहा है वह अपनेमें, अपने द्वारा, पर दंडका सम्बन्ध जब हुआ, दंडसे जब उसे घुमाया गया तब ही तो वह घूमा और जब दंडका सम्बन्ध नहीं रहता तो दंडके सम्बन्धके बिना वही चक्र इस तरहसे शान्त हो जाता है जैसे कि भीतमें चक्रका चित्र बना दिया जाय तो भीतमें चक्रचित्र जैसे ज्योंका त्यों हैं ऐसे ही देख लो, जब कोई प्रेरणा नहीं है, दंडका सम्बन्ध नहीं है उस समय चक्र चित्र की तरह ज्योंका त्यों पड़ा हुआ है । शंकाकारकी इन आशंकाओंमें मुख्य भाव यह है कि शक्तियाँ दो मानी जानी चाहियें—स्वाभाविकी व वैभाविकी ।

इसी मुख्य आशंकाके विकल्पको और सुनिये ।

शङ्काकारकी उक्त आशङ्काओंका आशय—शंकाकारका आशय है कि शक्तियां जीव में दो हैं—स्वाभाविकी शक्ति और वैभाविकी शक्ति । जैसा कि साधारणतया लोग इस पर जल्दी विश्वास कर लेंगे कि शङ्काकार ठीक ही तो कह रहा है—देखो जीवमें रागद्वेषरूप परिणामनेकी भी तो ताकत है । वह हुआ वैभाविकी शक्तिका काम और जीवमें ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदिक शुद्ध दशाओंसे भी तो परिणामनेका सामर्थ्य है । वह हुआ स्वाभाविकी शक्ति का काम । तो ऐसा ही शंकाकारका यह आशय है कि जीवमें शक्तियां दो मानी जानी चाहिएँ और तभी दोनोंके काम अपने-अपने समयपर ठीक होते रहेंगे । वैभाविकी शक्तिकी वजहसे विभावपरिणामन हो जायेंगे, स्वाभाविकी शक्तिके कारण स्वभावपरिणामन हो जायेंगे पर मान लेनी चाहियें दो शक्तियाँ और वे दोनों शक्तियाँ जीवमें शाश्वत हैं, सदाकाल हैं । ऐसा नहीं है कि जब जीवमें रागद्वेषादिक विभावपरिणामन हो रहे हैं तब तो वैभाविकी शक्ति ही हो, स्वाभाविकी न हो और जब जीवमें केवल ज्ञानादिक शुद्ध परिणामन हो रहे हों तब जीवमें स्वाभाविकी शक्ति ही हो, वैभाविकी न हो सो ऐसा नहीं है । दोनों ही शक्तियाँ जीवमें सदाकाल रहती हैं । पर यह होता रहता है कि वैभाविकी शक्तिको जब उपाधिका संयोग मिला तो वह विभावरूप परिणाम गया । नहीं मिलता है उपाधिका संयोग तो वह विभावरूप न परिणामेगा । शान्ति रहेगी, आराम करेगा, अनादिकालसे इतना तो परिश्रम किया वैभाविकी शक्तिने सो बेचारी थक भी तो बहुत गयी होगी । अब शुद्ध अवस्था जब आयी तो वैभाविकी शक्ति आराम कर ले । तो जब उपाधिका सम्बन्ध है तब उसका विभावपरिणामन चल रहा है । उपाधिका सम्बन्ध जब नहीं है तो वैभाविकी शक्ति नहीं परिणामन कर रही, इसके लिए एक लौकिक दृष्टान्त दिया जाता है । और देखा भी जाता है, यहां भी देख लीजिए—किसी चीजको उठाकर फेंका जाय या पकड़कर हिलाया जाय तो हाथके सम्बन्धसे वह चीज हिल रही है । तो हाथका सम्बन्ध होनेसे उसमें हिलने रूप परिणामन चल रहा है । हाथका सम्बन्ध न रहे, उस चीजको एक जगह रख दीजिए और उस हिलते हुए हाथका सम्बन्ध न रहने दिया जाय तो वह चीज जहाँकी तहाँ रखी हुई है, उसमें हिलनेका परिणामन नहीं हो रहा है, तो यों ही जब उपाधिका सम्बन्ध न रहा तो विभाव शक्ति परिणामन नहीं कर रही, उस समय वह बेकार पड़ी हुई है । इस तरह शक्तियाँ दो मानी जानी चाहिएँ—स्वाभाविकी शक्ति और वैभाविकीशक्ति, ऐसा शंकाकारका यहां आशय है ।

नैवं चतोस्ति परिणामि शक्तिजातं सतोऽखिलम् ।

कथं वैभाविकी शक्तिर्न स्याद्वै पारिणामिकी ॥८८॥

वैभाविकी शक्तिकी परिणामनशीलताका समाधान—उक्त शंकाके समाधानमें यह बताया जा रहा है कि कोई भी शक्ति परिणामरहित नहीं हो सकती है। तो वैभाविकी शक्ति कर्मोदयके अभावमें चक्रचित्रकी तरह कूटस्थ रह जाय, परिणामरहित रह जाय, यह बात संगत नहीं रह सकती। जितना भी शक्तिसमूह है, आत्मामें जितनी भी शक्तियाँ हैं वे सभी निरन्तर परिणामनशील हैं। कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है जो निरन्तर अपनी पर्यायें न बनाती रहे। फिर वैभाविकी शक्ति ही कैसे परिणामरहित हो जायगी? शंकाकारका यह आशय था कि जीवमें शक्तियाँ तो दो मान ली जायें, स्वाभाविकी शक्ति और वैभाविकी शक्ति। स्वभावपरिणामन स्वाभाविकी शक्तिसे होता है और विभावपरिणामन वैभाविकी शक्ति से होता है। अब केवल प्रश्न यह रह जायगा कि सिद्ध अवस्थामें तो विभाव नहीं बन रहा है, तो शंकाकारका यह आशय है कि नहीं बन रहा है सो ठीक है, उस समय वैभाविकी शक्ति बेकार पड़ी हुई है, वह परिणामन नहीं कर रही है। इसके उत्तरमें यह बताया जा रहा है कि प्रत्येक शक्तियाँ निरन्तर परिणामन करती ही रहती हैं। वैभाविकी शक्ति भी अन्य शक्तियोंकी तरह नित्य और शुद्ध शक्ति है। वह भी निरन्तर परिणामनशील है। शुद्ध अवस्था में वह परिणामन न करे, शंकाकारकी ऐसी शंका करना व्यर्थ है।

परिणामात्मिका काचिच्छक्तिश्चाऽपारिणामिकी ।

तद्ग्राहकप्रमाणस्याऽभावात्संदृष्ट्यभावतः ॥८६॥

शक्तिकी अपरिणामिकी माननेमें प्रमाणका अभाव—द्रव्यमें जितनी भी शक्तियाँ होती हैं वे निरन्तर परिणामन करती ही रहती हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि कोई शक्ति परिणामन करती रहे और कोई शक्ति परिणामन न करे। क्योंकि इस बातको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है कि कोई शक्ति कुछ परिणामन करे और कोई शक्ति परिणामन न करे, और न इसके लिए कोई दृष्टान्त भी मिल सकेगा। जो यह बताया है शंकाकारने कि दंडका जब सम्बन्ध न रहा तो चका स्थिर हो जाता है। फिर वह बेकार पड़ा रहता है। यह बात भी असिद्ध है। चक्र हिलने चलनेकी क्रिया नहीं कर रहा तो मत करे, किन्तु उसमें जो रूप, रस, गंध स्पर्श है या उसमें जो भी शक्तियाँ हैं वे सब शक्तियाँ अपना परिणामन कर रही हैं, वह चक्र परिणामनशून्य नहीं पड़ा हुआ है। तो इसी तरह कर्मका सम्बन्ध नहीं है तो उस स्थितिमें वैभाविकी शक्ति पड़ी रहे, परिणामन न करे सो बात नहीं है। उस समय वह शक्ति आत्मस्वभावरूपसे परिणामती रहती है। तो कोई शक्ति परिणामन करने वाली हो, कोई शक्ति परिणामन करने वाली न हो, ऐसा नहीं होता। चक्र अगर न हिला तो उसमें प्रदेश क्रिया नहीं हुई। हलन-चलन न रहा तो न रहा, पर अन्य शक्तियोंका परिणामन तो चल रहा और वहाँ वह क्रियामयी शक्ति एक उस स्थिर पदार्थके स्थिर स्वभावमें परिणाम

रही है। तो ऐसा न हो सकेगा कि कोई शक्ति परिणामन करे और कोई शक्ति परिणामन न करे। जितनी भी शक्तियाँ हैं सभी निरन्तर परिणामन करती रहती हैं।

तस्माद्वैभाविकी शक्ति स्वयं स्वाभाविकी भवेत् ।

परिणामात्मिका भावैरभावे कृत्स्नकर्मणाम् ॥६०॥

निरुपाधिदशामें वैभाविकी शक्तिका स्वभावपरिणामन होनेका निर्णय—उक्त कथन से जब यह सिद्ध हो चुका कि सभी शक्तियोंका निरन्तर परिणामन होता रहता है तब वैभाविकी शक्ति भी तो एक शुद्ध शक्ति है, वह भी जब समस्त कर्मोंका अभाव होता है तो अपने स्वभावसे प्रवृत्त हुई वह स्वाभाविकी क्रियामय हो जाती है। वैभाविकी शक्ति प्रतिक्षणमें परिणामनशील है और वैभाविकी शक्ति ही अवस्थाके भेदसे विभावमें है तो स्वभावमें भी कभी आता है। जब कर्मोंका सम्बन्ध है, उपाधिका उदय है तब वैभाविकी शक्तिका विभावरूप परिणामन होता है और जब समस्त कर्मोंका अभाव होता है तब यह आत्मा अपने स्वाभाविक शुद्ध भावोंसे परिणामता हुआ होता है। उस समय स्वाभाविकी प्रवृत्ति इसकी होती है याने वैभाविकी शक्तिका नाम तो है वैभाविकी, पर अर्थ यह न जानना कि उसका स्वभाव विभाव करना है। उपाधिके सम्बन्धसे उसका विभावपरिणामन होता है, पर शब्द को देखकर इस तरहकी बात न समझना चाहिए कि वैभाविकी शक्तिका स्वभाव तो विकार करना है। शक्तियाँ जितनी होती हैं वे सब सहज और शुद्ध होती हैं। हाँ कुछ पर्यायगत योग्यतायें ऐसी होती हैं कि उन पर्यायोंके रहते हुए तो योग्यता है और उन पर्यायोंके न रहते हुए योग्यता नहीं है, फिर भी कोई द्रव्यमें उन सर्वशक्तियोंकी कल्पना करे तो की जा सकती है। इस तरह केवल एक वैभाविकी शक्ति है, जिस शक्तिके अवस्थाभेदसे दो प्रकारके परिणामन होते हैं। एक स्वाभाविक परिणामन और दूसरा वैभाविक परिणामन। उन परिणामनों को सिद्ध करनेके लिए दो शक्तियाँ स्वाभाविकी और वैभाविकी अलग-अलग न मानी जानी चाहिएँ।

ततः सिद्धं सतोवश्यं न्यायाच्छक्तिद्वयं यतः ।

सदवस्थाभेदतो द्वैतं न द्वैतं युगपत्तयोः ॥६१॥

एक शक्तिकी दो अवस्थाओंकी सिद्धि—उक्त समस्त विवेचनोंका सारांश यह है कि इस जीव सहित पदार्थमें दो प्रकारकी शक्तियाँ जैसे प्रतीतिमें रहती हैं, पर वे शक्तियाँ क्या हैं? अवस्थाके भेदसे वह दो प्रकारका भेद बना हुआ है। अर्थात् जीवमें जो यह द्वैत चल रहा है, जीव कभी रागद्वेषरूप विभावपरिणामनमें है और कभी रागद्वेषरहित स्वभावपरिणामन में है, इस प्रकार जीवमें जो स्वसमय, परसमयका द्वैत चल रहा है वह द्वैत अवस्थाभेदसे है। स्वाभाविक और वैभाविक, इन दो शक्तियोंकी अपेक्षासे यह द्वैत नहीं है, याने इस द्विविधाको

देख करके दो शक्तियाँ मानी जायें ऐसी बात नहीं है। वस्तुमें एक समय एक ही परिणामन होता है, ऐसा हर जगह देख लीजिए। ज्ञानमें एक समय एक परिणामन है। दर्शन आनन्द आदिक सभी गुणोंमें एक समयमें अपना-अपना एक-एक परिणामन है। तो वैभाविकी शक्तिमें भी एक समयमें एक परिणामन होगा। अब वहाँ जो दो अवस्थायें हो रही हैं वे क्रमसे हो रही हैं, एक साथ नहीं हैं कि जीवमें स्वाभाविक परिणामन भी हो और वैभाविक परिणामन भी हो। इस तरहसे दो परिणामन नहीं हैं। जो कुछ भी यह परिणामन है वह वैभाविकी शक्तिका एक परिणामन है। इसी कल्पनामें यह बात लायी जा सकती है कि जीवके मानो ६० अंश राग न रहा, ४० अंश राग है तो वहाँ ६० अंश तो स्वाभाविकपरिणामन होगा और ४० अंशमें विभावपरिणामन है तो लो दो परिणामन तो हो गए, यह कल्पनासे देखा गया है। वस्तुतः दो परिणामन नहीं हैं। वैभाविकी शक्तिका वह एक परिणामन ऐसा है कि जिसे हम उस परिणामनकी मंद विभावतामें यह देख रहे हैं कि इतने अंशमें स्वाभाविकपरिणामन है और इतनेमें विभावपरिणामन है। यह कल्पनासे समझा है, पर परिणतियाँ वहाँ दो हो गयी हों ऐसी बात नहीं है। जब समस्त कर्मोंके अभावमें वैभाविकी शक्तिका स्वभावपरिणामन चलता है तो कर्मोंकी शिथिलतामें, मंद उदयमें या कुछ क्षयोपशममें ऐसी शक्ति आ जाय तो कहीं वह स्थिति दो परिणतियाँ न कहलायेंगी। जीवमें परिणति एक है और वह है विभावशक्तिका परिणामन तो स्वभावपर्याय और विभावपर्याय ये दोनों अवस्थाभेदसे रहा करते हैं। गुणकी दृष्टिसे स्वाभाविकी और वैभाविकी एक साथ न माने जायेंगे। क्योंकि यदि उन्हें एक साथ मान लिया जाता है तो वे गुण कहे जायेंगे, पर्यायें नहीं कही जा सकतीं। पर्याय तो एक समयमें एक होती है। तब यह समझना चाहिए कि अवस्थाके भेदसे वहाँ दो अवस्थायें भेद, द्वैत पाया गया है—स्वाभाविक परिणामन और वैभाविक परिणामन, सो वे क्रम से हुए हैं, एक साथ नहीं हुए हैं। तथ्य यह है जीवमें वैभाविकी शक्ति है और उसे यों समझ लीजिए कि जीव और पुद्गलके परिणामनेकी शक्ति तो है पर ऐसी विशेषताको लिए हुए परिणामनशील है कि अशुद्ध अवस्थामें उपाधिका सन्निधान पाये तो वह विभावरूप परिणाम सकता है। बस उस ही भावशक्तिकी यह विशेषता विभावशक्ति शब्दसे बतला दिया गया है। जीवमें शक्ति तो वह एक है वैभाविकी शक्ति, पर कर्म उपाधिके सन्निधान और अभावमें उसके दो प्रकारके परिणामन हो जाते हैं।

योगपद्ये महान् दोषस्तद्वैतस्य नयादपि ।

कार्यकारणयोर्नाशो नाशः स्याद्वन्धमोक्षयोः ॥६२॥

एक शक्तिकी दो अवस्थाओंके योगपद्यका अभाव तथा क्रमशः वर्तन—यहाँ तक यह बात सिद्ध कर दी गई है कि वैभाविकी शक्ति एक ही है और उसकी दो अवस्थायें होती हैं,

जो कि क्रमसे होती हैं, यह सिद्धान्त स्थापित किया था। अब यहाँ यह बात युक्तिपूर्वक विचार लीजिए कि वैभाविकी शक्तियोंमें जो अवस्थाभेदका द्वैत आया है याने पर्यायकी अपेक्षा से स्वाभाविक और वैभाविक ऐसा द्वैतपना आया है तो वह क्रमसे आया है। यदि इनको एक साथ स्वीकार किया जाय तो इसमें बड़ा दोष आता है। जैसे मानो वैभाविक भाव और स्वाभाविक भाव दोनों एक साथ मान लिया तब यहाँ कार्य कारण भावका नाश हो जायगा। कार्य कारण भावका अर्थ यह है कि पूर्व पर्याय कारण होती हैं और उत्तर पर्याय कार्य होती हैं। जिसे इन शब्दोंमें कहा गया है कि पूर्व पर्याय सहित द्रव्य उत्तरपर्यायका उपादान कारण होता है, और वहाँ इतना तो समझा ही जा सकता है कि पूर्वपर्याय हुए बिना उत्तरपर्याय नहीं हो सकती। जैसे कि बंध और मोक्षकी बात है। बंधपूर्वक मोक्ष होता है या मोक्षपूर्वक बंध होता है। मोक्षसे पहिले बंध है या बंधसे पहिले मोक्ष है? यह उत्तर होगा कि मोक्षसे पहिले बंध है। बंध न हो तो मोक्ष किसका बताया जाय? तो जैसे मोक्षमें बंध कारण है, यहाँ कारणसे अर्थ पूर्ववर्तिता लेना है। यदि पहिले यह परिणति न होती तो अगले समयमें यह परिणति न हो सकती थी। इस आशयसे यहाँ कार्य कारण भावकी बात निरखना है। तो जब स्वभावपरिणमन और विभावपरिणमन दोनोंको एक साथ मान लिया तो वहाँ कार्य कारण भाव न ठहरेगा। बात तो यह तथ्यभूत है कि वैभाविक अवस्थापूर्वक स्वाभाविक अवस्था होती है। जितने भी सिद्ध भगवन्त हुए हैं उनकी पहिले बद्ध अवस्था थी। कभीसे सिद्ध हुए। जबसे सिद्ध हुए उससे पहिले तो वे कर्मबन्धमें थे, बद्ध अवस्था थी। तो बंधन था, फिर आत्मसाधनाका उपाय बना और मुक्त हो गए। तो वह मुक्ति बंधपूर्वक हुई। तो ऐसी ही जो स्वाभाविक अवस्था आयी सिद्ध परमेष्ठीकी वह स्वाभाविक अवस्था वैभाविक अवस्थापूर्वक आयी है। पहिले विभाव अवस्था थी। जैसे कि मोक्ष संसारपूर्वक होता है, संसार था अब मोक्ष हो गया। तो जैसे मोक्ष संसारपूर्वक है और इन शब्दोंमें भी कहा जा सकता है कि मोक्षप्राप्तिका कारण संसार है। इसका अर्थ यह न समझना कि संसारके जो भाव हैं, अशुद्धता है, विभाव है, रागद्वेष है वह मोक्षके कारण हैं। यह यहां अर्थ नहीं है, किन्तु उत्तर पर्याय पूर्वपर्यायपूर्वक होती है। इस कारणसे उत्तरपर्यायका कारण पूर्वपर्याय है। तो मोक्ष है उत्तरपर्याय, संसार है पूर्वपर्याय तो संसारपूर्वक मोक्षप्राप्ति मान लो, यों संसार कारण मोक्ष का रहा। इसी तरह वैभाविकी अवस्थाके बिना स्वाभाविक अवस्था नहीं बन सकती। तो वहाँ इस न्यायसे कि पूर्वपर्याय पूर्वक उत्तरपर्याय होती है। यहां स्वाभाविक परिणमनको वैभाविक परिणमनपूर्वक कहा जायगा, और स्वाभाविकपरिणमन वैभाविकपरिणमनका कारण हो गया तो इस तरह कार्य कारणकी व्यवस्था होती थी, लेकिन जब स्वभावपरिणमन और विभावपरिणमन दोनों एक साथ मान लिए गए तो वहाँ अब कार्य कारण भाव नहीं सिद्ध

हो सकता है। तो स्वाभाविक परिणामन और वैभाविक परिणामन दोनोंको एक साथ मान लेने पर दूसरा भी दोष है। वह दोष यही है कि बंध और मोक्षका भी अभाव हो जायगा। यहां क्रमसे दो अवस्थायें मान रहे थे तब तो बंध मोक्ष की व्यवस्था बन रही थी। पहिले वैभाविक अवस्था है उसके पश्चात् स्वाभाविक अवस्था हुई वैभाविक अवस्थामें बंध कहलाता, स्वाभाविक अवस्थामें मोक्ष कहलाता। वैभाविक अवस्थाको पहिले माननेसे बंधपूर्वक मोक्ष होता है यह बात सिद्ध हो जाती थी, पर अब तो स्वभावपरिणामन और विभावपरिणामन दोनोंको एक साथ मान लिया गया है। तो बंध और मोक्ष दोनों एक साथ बन बैठेंगे स्वभावपरिणामन व विभावपरिणामन। स्वभावपरिणामनमें मोक्ष कहलाया, विभावपरिणामन में बंध कहलाया। तो बंध और मोक्ष दोनों एक साथ हो गए। भला सोचो तो सही क्या दोनों एक साथ हो सकने हैं? बंध है तो मोक्ष क्या? मोक्ष है तो बंध क्या? फल यह होगा कि दोनों ही न रह सकेंगे। बंधकी सत्ता रहते हुए मोक्ष तो नहीं होता। तो लो आत्माका मोक्ष कभी भी नहीं हो सकता है। अतः यह मानना चाहिए कि शक्ति तो एक है—वैभाविक शक्ति, पर उसके परिणामन दो होते हैं और वे क्रमसे होते हैं।

नैक शक्ते द्विधाभावो यौगपद्यानुषङ्गतः।

सति तत्र विभावस्य नित्यत्वं स्यादवाधितम् ॥६३॥

**वैभाविकी शक्तिकी दोनों अवस्थाओंको युगपत् माननेमें दोषापत्तिका प्रसङ्ग—**अब इस प्रसंगका निष्कर्ष बतानेके लिए यह अंतिम गाथा कही जा रही है। यद्यपि एक शक्तिके ही दो भेद हैं याने वह एक वैभाविकी शक्ति दो रूपोंको धारण करती है, परन्तु उस एक शक्तिके ये दो भेद एक साथ नहीं हो सकते। यदि स्वाभाविक और वैभाविक दोनों अवस्थाओंको एक साथ मान लिया जाता तो उसका अर्थ यही तो स्पष्ट हुआ कि वैभाविक अवस्था भी सदा बनी रहेगी और जब वैभाविकी अवस्था सदा हो गयी तब मोक्षका पुरुषार्थ करना व्यर्थ है, क्योंकि विभावपरिणामन तो सदा ही रहेगा और मान लो किसी कल्पनामें किसी प्रयास द्वारा कुछ थोड़ासा मोक्ष बना लिया तो अब उस मोक्षका मूल्य क्या है? वैभाविक परिणति तो सदा रहती है और मोक्ष भी वह क्या है? एक थोड़ा कम राग हुआ और वैकृण्ठ जैसे नामसे मुक्ति मान लिया, लेकिन वह वैकृण्ठ एक नवश्रेयिक जैसी स्थिति रही, जहाँ शुवल लेश्या है, कुछ शान्त स्थितिमें रहना है, लेकिन वहाँसे भी तो जीवको मरण करा होता है, नया भव धारण करना होता है। यदि वैकृण्ठ स्थिति भी सदा रही आये तो मोक्ष कुछ चीज न रहेगा और मोक्षके लिये प्रयास करना व्यर्थ हो जायगा। इस कारण यही सिद्धान्त मान लेना चाहिए कि जीवमें एक वैभाविकी शक्ति नामका गुण है और उसकी उपाधिके सद्भावमें तथा उपाधिके अभावमें दो प्रकारके परिणामन होते हैं। उपाधिसन्निधिमें

तो विभावपरिणमन होता है, और उपाधिके अभावमें स्वभावपरिणमन होता है। ये दोनों परिणमन एक कालमें नहीं हो सकते।

ननु चानादितः सिद्धं वस्तुजातमहेतुकम् ।

तथाजातं परं नाम स्वतः सिद्धमहेतुकम् ॥६४॥

तदवश्यमवश्यं स्यादन्यथा सर्वसङ्करः ।

सर्वशून्यादिदोषश्च दुर्वारो निग्रहास्पदम् ॥६५॥

ततः सिद्धं यथा वस्तु यत्किञ्चिच्चिज्जडात्मम् ।

तत्सर्वं स्वस्वरूपाद्यैः स्यादनन्यगतिः स्वतः ॥६६॥

अयमर्थः कोपि कस्यापि देशमात्रं हि नाश्नुते ।

द्रव्यतः क्षेत्रतः कालाद्भावात् सीम्नोनतिक्रमात् ॥६७॥

व्याप्यव्यापकभावस्य स्यादभावेपि मूर्तिमत् ।

द्रव्यं हेतुविभावस्य तत्किं तत्रापि नापरम् ॥६८॥

वैभाविकस्य भावस्य हेतुः स्यात्सन्निकर्षतः ।

तत्रस्थोप्यपरो हेतुर्न स्यात्किं वा वतेति चेत् ॥६९॥

शंकाकारकी एक आशङ्काकी भूमिकामें वस्तुस्वरूपका विन्यास—शंकाकार अभी आगे की जाने वाली शंकाकी भूमिकारूपमें सिद्धान्त रख रहा है—जो भी सत् है वह अनादिसे सिद्ध है और सभीका सभी अहेतुक है। जब अनादि सिद्ध है यह बात विदित हो जायगी तो यह सहज ज्ञात हो जायगा कि वह अहेतुक है। जो कोई किसी हेतुसे उत्पन्न होता है वह अनादि नहीं हो सकता। पर्याय ही ऐसी है जो किसी कारण-कलापसे उत्पन्न होती है। तो पर्याय अहेतुक नहीं हैं और इसी कारण वे अनादिसिद्ध भी नहीं हैं, पर जो सत् है वह सबका सब अनादिसे सिद्ध है और अहेतुक है, साथ ही यह भी जानें कि जैसे वस्तु अनादि सिद्ध है उसी प्रकार उनका नाम भी स्वतःसिद्ध है और अहेतुक है। नाम स्वतःसिद्ध यों है कि जबसे पदार्थ हैं तभीसे उनका ज्ञान करने वाले लोग भी चले आये हैं और जब पदार्थ हैं तो उनके सहायक शब्द भी हैं। भले ही ऐसा हो रहा हो कि किसी भाषामें कोई नाम है, कभी कोई नाम रखा हो, कभी कुछ, लेकिन जब वे वाच्य तत्त्व हैं तो उनका वाचक भी शब्द तभीसे चला आया। साथ ही नाम भी उनका अहेतुक है। किस कारणसे रखा है? रुढ़ि है ये अनादिसे पदार्थ है। अनादिसे उनका कथन चला आ रहा है, अनादिसे उनका नाम भी चला आ रहा है। तो जैसे वस्तु अनादिसे सिद्ध है और अहेतुक है इसी प्रकार नाम भी स्वतःसिद्ध है और अहेतुक है—यह बात होना आवश्यक है। यदि इसमें फर्क डाल दिया जायगा। किसी वस्तुको अनादि सिद्ध न माना जाय, अहेतुक न माना जाय, उनके नामको भी अहेतुक और स्वतःसिद्ध न



माना जाय तो सर्वसंकर दोष आ जाता है । सर्वसंकर दोषका अर्थ यह है कि सब आपसमें एकमेक हो गए, तब किसीका स्वरूप ही न रहेगा । जैसे वस्तुको अनादि सिद्ध नहीं माना जाता, वह किसी कारणसे है, किसी समय है, तो किसी समय कुछ बना दिया, किसी समय कुछ और जो बना वह दूसरे समयमें और कुछ बन गया । ऐसी अनेक विडम्बनायें बन जायेंगी । सत्को अनादि सिद्ध न माननेमें और अहेतुक न माननेमें सर्वसंकर दोष आता है । फल यह हुआ कि कुछ भी न रहेगा तो सर्वशून्यदोष आ जायगा । इस कारण यह मानना पड़ेगा कि अनादिसे सिद्ध और अहेतुक हैं समस्त पदार्थ और इसी तरह उनका नाम भी स्वतः सिद्ध है और अहेतुक है ।

शंकाकी भूमिकामें वस्तुको अनादिसिद्ध व अहेतुक न माननेपर साङ्ख्य व शून्यतादि दोषको दिखाकर निर्णयका समर्थन—शंकाकार अपनी शंकाकी भूमिका बना रहा है । शंकाकार क्या कहेगा ? यह बात अंतिम श्लोकमें बतायी जायगी, पर यहाँ यह सिद्ध कर रहा है शंकाकार अपनी भूमिकामें कि देखिये—पदार्थ अनादि सत् है और अहेतुक है । इसी प्रकार पदार्थोंका नाम भी स्वतःसिद्ध है और अहेतुक है । जब ऐसा कोई न मानेगा तो वहाँ संकर दोष होगा, सर्वशून्य दोष होगा और उसका फल होगा कि सर्वका अभाव हो जायगा । जो कि विनाशका कारण ही बनेगा और पदार्थका सत्त्व ही फिर न रहेगा, अतः यह मानना होगा कि वस्तु अनादि सिद्ध है और अहेतुक है । इस तरहसे जब यह बात सिद्ध हो गयी कि वस्तु अनादिसे सिद्ध है और अहेतुक है तो यह मानना होगा कि जो कुछ भी चेतन अचेतन जितने पदार्थ हैं वे सब अनादिसे सिद्ध हैं और अहेतुक हैं, अपने-अपने स्वरूपसे सबका सत्त्व है, और उनमें ऐसा ही स्वभाव है कि उनका परिणामन किसी दूसरेसे नहीं हो सकता । स्वतः ही उनका परिणामन होता है । यहाँ तक यह सिद्ध किया गया है शंकाकार द्वारा अपनी शंका जमानेके लिए कि वस्तु अनादि सिद्ध है, अहेतुक है, चाहे वह चेतन पदार्थ हो, चाहे जड़ पदार्थ हो, और इसी कारण सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूपसे ही अस्तित्व रखते हैं, जिसका फल यह हुआ कि सभी पदार्थ अपने आपसे ही अपना परिणामन करते हैं । अब इस सब कथनका निचोड़ यह हुआ कि सभी पदार्थ स्वतःसिद्ध हैं और अपने आपमें अपना परिणामन करते हैं । कोई भी पदार्थ किसी भी दूसरे पदार्थका अंशमात्र भी ग्रहण नहीं करता और किसीके अंशको बिगाड़ भी नहीं सकता । यों समझिये कि कोई पदार्थ किसीके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव या किसी भी अंशको खा नहीं सकता, क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे जो पदार्थोंमें सीमा बनी हुई है उस सीमाका उल्लंघन नहीं हो सकता है । सभी पदार्थ अपने द्रव्यसे हैं, अपने क्षेत्रसे हैं, कालसे हैं और भावसे हैं । उनकी सीमा बिगाड़ी नहीं जा सकती है । यदि कोई पदार्थ किसीके द्रव्यसे हो जाय, किसीके क्षेत्र, काल, भावसे परिणाम जाय तो इसके मायने हैं कि उस

पदार्थने दूसरे पदार्थका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका कोई अंश खा लिया है। अब उसमें फिर क्या रहेगा ? तो ऐसा नहीं हो सकता कि कोई पदार्थ किसीके अंश मात्रको बिगाड़ सके।

व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेपर जीवमें विभाव करनेकी कारणात्ता मूर्तिक पुद्गल में ही क्यों है अन्यमें क्यों नहीं, यों ब्रजहकी जिज्ञासाका शंकाकार द्वारा प्रश्न—जब कोई पदार्थ किसी अन्यका कुछ हड़प नहीं सकता तो अब शंका जो रखनी है वह कही जा रही है कि तब कर्ममें और जीवमें व्याप्यव्यापक भाव न रहा, क्योंकि कर्म अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें है, जीव अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें है, तो परस्पर व्याप्यव्यापक भाव तो न रहा। जीव स्वतंत्र सत् है, कर्म स्वतंत्र सत् है, एकका दूसरेमें कोई व्याप्यव्यापक सम्बंध नहीं है। जब कोई सम्बंध न रहा, दोनों ही स्वतंत्र सत् रहे तो यह बात तो बतलाओ कि मूर्तिमान पुद्गल कर्म विभावका कारण कैसे हो गया ? इसकी वजह तो बतलाओ कि कर्म जीवके रागद्वेषका कारण कैसे बन गया ? जब जीव स्वतंत्र सत् है, कर्म स्वतंत्र सत् है, कर्मका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जीवमें नहीं है, जीवका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कर्ममें नहीं है तब दोनोंकी सत्ता स्वयंसिद्ध है, भिन्न-भिन्न है। फिर क्या वजह है कि मूर्तिमान कर्म पुद्गल जीवके विभाव का कारण बने, और वहीं रहने वाले और पदार्थ जीवके विभावके कारण न बनें। शंकाकार का यह आशय है कि जब प्रत्येक वस्तु अपने आपमें परिपूर्ण है, स्वतःसिद्ध है तो एक वस्तुका अन्य समय वस्तुओंके साथ कुछ सम्बंध नहीं, अत्यन्ताभाव है। कभी भी तीन कालमें कोई पदार्थ किसी दूसरे द्रव्यरूप न बन सकेगा। तो जब एकका अन्य पदार्थोंमें सर्वथा ही अभाव है तो इस जीवके लिए जैसे कर्म हैं तैसे ही धर्मादिक द्रव्य हैं, और भी पुद्गल द्रव्य हैं। आत्मामें रहने वाले विस्त्रसोपचय रूप कार्माण वर्णायें हैं। इस जीवके लिए तो अपने स्वके सिवाय बाकी सभी एक समान रूपसे पर हैं। तो जब जीवका किसी अन्यमें सद्भाव नहीं है, सम्बंध नहीं है तो वह वजह क्या है कि जीवके रागद्वेषका कारण कर्म बने, और और पदार्थ न बनें ?

सन्निकर्ष सम्बन्धके कारण जीवविभावमें कर्मकी हेतुताका समाधान देनेपर सम्बंधित विस्त्रसोपचयमें बन्धाकारणात्ताके कारणकी शंकाकारकी जिज्ञासा—यदि कोई यहाँ यह समाधान देना चाहे, शंकाकार ही कह रहा है कि भाई जीवके साथ कर्मोंका सन्निकर्ष है, सम्बंध है, इस कारणसे ये कर्म जीवके वैभाविक भावके कारण बन जाते हैं। तो इसके उत्तरमें सुनो कि फिर उस ही जीवमें रहने वाली जो अन्य विस्त्रसोपचयरूप कार्माणवर्णायें हैं उनका भी तो सन्निकर्ष है जीवके साथ। जीवका जब मरण होता है—एक भव छोड़कर अगले भवमें जाता है तो जैसे जीवके साथ बद्धकर्म साथ जाते हैं, कार्माणशरीर साथ जाता है उसी प्रकार विस्त्रसोपचय भी साथ जाते हैं। इतना तक तो घनिष्ठ सम्बन्ध है विस्त्रसोप-

चयका जीवके साथ, फिर क्या वजह है कि कर्म ही जीवके विभावभावके कारण बनें ? और विस्रसोपचयरूप बसी हुई कामाणवर्गणायें जीवके विभावका कारण न बने ? शंकाकारका यह अभिप्राय है कि जब जीवसे सभी पदार्थ जुदे हैं तो उनमें कर्म ही कारण क्यों बन गया और कुछ कारण न बने, अथवा कोई भी कारण न बने ? क्या मामला है ? अब इस शंका के उत्तरमें कहते हैं—

सत्यं बद्धमबद्धं स्याच्चिद्रव्यं नाथ भूर्तिमत् ।

स्वीयसम्बन्धिभिर्बद्धमबद्धं परबन्धिभिः ॥१००॥

बद्धाबद्धत्वयोरस्ति विशेषः पारमार्थिकः ।

तयोर्जात्यन्तरत्वेपि हेतुमद्धेतुशक्तितः ॥१०१॥

उक्त शंकाके समाधानमें जीवकी स्वसम्बन्धी वर्गणाओंसे बद्धता हो सकनेका वर्णन—  
उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि शंकाकारने जो ऊपर शंका उठायी है उसमें अनेक बातें सत्य हैं, फिर भी कर्म ही जीवके बन्धका कारण बना है यह भी प्रसिद्ध बात है । शंकाकार ने कहा कि समस्त वस्तुवें अनादिसे सिद्ध हैं, ठीक है और सारे सत् अनादि सिद्ध हैं और सभी सत् अहेतुक भी हैं और सभी सत् अपने आपके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे हैं, किसी अन्य के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नहीं हैं । भूमिकामें शंकाकारने जो जो कुछ कहा वह सब सत्य है, उसमें विवाद नहीं है, मगर यहाँ यह बात देखिये कि सभी जीव और पुद्गल बद्ध और अबद्ध तो नहीं होते । कोई चेतन बद्ध है और कोई मूर्तमान पुद्गल बद्ध है, और भी देखिये कि जागतमें केवल कर्मपरमाणु ही चीज नहीं है अनेक प्रकारके पुद्गल हैं । २३ जातिकी वर्गणायें बतायी गई हैं । पुद्गलकी वर्गणाओंमें प्रकार २३ होते हैं । इन कर्मपुद्गलोंमें से कुछ ही वर्गणायें जीवसे सम्बन्धित होती हैं । जो जीवसे सम्बन्धित होती हैं उनसे ही जीवका बन्धन बन सकता है और जिन जो जीवोंसे सम्बन्धित नहीं होते हैं उनसे जीवका बन्धन नहीं बनता । तो ऐसी उन २३ प्रकारकी वर्गणाओंमें से ५ प्रकारकी वर्गणायें हैं जो जीवसे बंध सकती हैं—आहारक वर्गणायें तैजस वर्गणायें, कामाण वर्गणायें, भाषावर्गणायें और मनोवर्गणायें । आहारक वर्गणाका अर्थ है शरीरसे । जो नोकर्मके अणु शरीर हैं उनको ही आहार वर्गणा कहते हैं । तो ५ प्रकारकी वर्गणाओंसे जीवका बन्धन हो पाता है, सबसे नहीं । यह सब बात एक प्राकृतिक है । जो प्राकृतिक बात है उसमें भी कोई शंका करने लगे कि ५ प्रकारकी कर्म-कामाणाओंसे ही जीव क्यों बँधता है, अन्य वर्गणाओंसे क्यों नहीं बँध गया ? स्वभाव ही क्यों ऐसा है ? यदि यों प्रत्येक बातमें तर्क उठाय जाय तो जो समाधान दिया जाय उसीमें तर्क उठा देना चाहिए । जो समाधान दे, ऐसा ही क्यों हुआ है ? फिर तो कोई व्यवस्था नहीं है । यह बात एक प्राकृतिक है कि जीवका बन्धन इन

५ प्रकारकी वर्गणाओंसे हो सकता है, अन्यसे नहीं हो सकता है ।

विशिष्ट जीवका विशिष्ट कर्मवर्गणासे बन्ध होनेका वर्णन—अब उनमें भी यह बात देखा जा रही है कि कोई जीव इन वर्गणाओंसे बँधते हैं, कोई नहीं बँधते हैं । ऐसा भी तो है । सिद्ध भगवान किसीके बन्धनमें नहीं हैं, वे केवल अपने आपमें पूर्ण नग्न हैं । आत्मा उनका पूर्ण नग्न है । नग्नताका अभाव अर्थात् एक चीजपर दूसरी चीजका जमाव होना, पैदा होना, आवरण होना, यह बात वहाँ रंच भी नहीं है । पूर्ण आत्मा नग्न है, अपने सत्य स्वरूपमें व्यक्त है । उसके साथ किसी भी अणुका बन्धन अब नहीं रहा है । तो वहाँ तो बन्धन नहीं है, वह तो अबद्ध है, और यहाँ संसार अवस्थामें हम आप सब जीवोंको देख लीजिए बद्ध बन रहे हैं, तो बद्धता और अबद्धतामें तत्त्वतः भेद है, और जो जीव बद्ध है उसीके लिए ही कर्मबन्ध विभावके कारण बन सकते हैं । यहाँ इतनी बात विशेष समझनी चाहिये कि जीवके बंधका कारण कर्म है, विभावका कारण कर्म है, लेकिन ये कर्मबद्ध जीवके ही विभाव का कारण बन सकेंगे । अबद्ध जीवके विभावका कारण नहीं बन सकते । तो यहाँ दोनों प्रकारसे बात देखिये ना कि जीव बद्ध है, अशुद्ध है, वह स्वयं अपराधी है । तो जो स्वयं अपराधी है उसके ही बंधका कारण कोई हो सकता है । जो अपराधी नहीं है उसके बंधका कारण कोई दूसरा नहीं हो सकता है । लोकमें भी तो यही निरखा जाता है । कोई चोर है या किसी प्रकारका अपराधी है उसको ही बंधकी आशंका रहती है और उसके ही बन्धन बनता है । तो जीव अशुद्ध है और अनादिसे अशुद्ध चला आ रहा है, इस स्थितिमें जीवके बन्धन होते हैं । जीवके रागद्वेषादिक बन्धन होते हैं और उनका कारण यह कर्मत्रिपाक होता है ।

बद्धता और अबद्धतामें अन्तर तथा विजातीय होनेपर भी जीव और कर्ममें निमित्त-नैमित्तिक भावकी विशेषता—बद्धतामें और अबद्धतामें कोई वास्तविक ही भेद है । यों नहीं है कि जीव तो शुद्ध ही रहता हो, और जो कुछ भी बन्धन है, रागद्वेष है, अज्ञान है, मोहबुद्धि आदि हैं, ये सब किसी अन्य वस्तुके धर्म हुए । जैसे कि एक दार्शनिकने यह माना है कि जीव तो चैतन्यमात्र है, सदा शुद्ध है, उसमें परिणामन भी नहीं है और जितने भी अज्ञान, मोह-बुद्धि, कल्पनायें, रागद्वेष शरीर आदिक जो भी हैं वे सब प्रकृतिके विकार हैं, प्रकृतिके काम हैं । सो ऐसा नहीं है कि जीव तो सदा शुक्त ही हो, अबद्ध ही हो, शुद्ध ही हो, और यहाँ ये सब बन्धन, रागद्वेष आदिक प्रकृतिके चल रहे हों ऐसा नहीं है । जो भी सत् होता है वह निरन्तर परिणामनशील होता है । जीव सत् है, ब्रह्म कहो या आत्मा कहो, यदि सत् है तो वह नियमसे परिणामशील है । उसमें परिणामन होता है । तो अनादिसे जीवमें अशुद्धताका परिणामन चला आया है । यदि जीवको अनादिसे शुद्ध मान लिया जाय तो शुद्ध जीवमें अशुद्धताका, बन्धनका कोई कारण ही नहीं है । तब तो किसी भी प्रकार यह अशुद्ध न हो

सकता था । हम आज अशुद्ध हैं तो हमारी आजकी यह अशुद्धता प्रमाणित करती है कि हम अनादिसे ही अशुद्ध चले आये हैं । तो जो अनादिसे अशुद्ध चला आया है ऐसे ही जीवके विभावके कारण कर्म बँधता है और जो कर्म इसके पूर्व अशुद्ध भावोंके कारण बँधा हुआ है, जिसमें प्रकृति, स्थिति, अनुभागका भी बन्धन बना हुआ है, जिसमें यह बन्धन पड़ा है कि यह अमुक डिग्रीमें फल देगा, यह अमुक जातिका फल देगा । ऐसे ही कर्म इस जीवके विभावके कारण बनते हैं । तो यह विशेषता बद्ध और अबद्ध जीवकी है । तो जो अशुद्ध जीव है उसके ही विभावका कारण पूर्वबद्ध कर्मोंका उदय बनता है और ऐसी जो बद्धता है, जीव और कर्म इन दोनोंमें बंधन है, सो इन सब बातोंसे यह समझ लीजिए कि यद्यपि ये दोनों विजातीय पदार्थ हैं । जीव तो चेतन है । कर्म जड़ हैं, ऐसे विजातीय पदार्थ होकर भी इन दोनोंमें परस्पर जो बन्धन है तो निमित्तनैमित्तिक भावकी शक्तिसे बंधन है । इसमें ऐसी योग्यता है कि कर्मबन्धनका निमित्त पाये तो जीवमें रागादिक विभाव बंध जायेंगे और जीवमें रागादि विभाव होंगे तो इन कार्माणवर्गणाओंमें कर्मत्व पर्याय बंध जायगी, ऐसा इनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव पड़ा हुआ है । इस कारणसे अत्यन्त विजातीय होनेपर भी एक दूसरेका निमित्त पाकर परस्परमें इनका बन्धन हो जाता है । तो यहाँ दो बातें विशेषतया ध्यानमें लाना है कि बद्धता और अबद्धतामें अन्तर है और बद्ध जीव ही कर्मका निमित्त पाकर रागद्वेष करता है और जीवके रागद्वेषका निमित्त पाकर उस उस रूप बंधने योग्य कार्माणवर्गणायें ही कर्मरूपसे बंध जाती हैं । तब शंकाकारका यह आश्चर्य करना व्यर्थ है कि जब जीवका परमें अत्यन्ताभाव है तो किस कारणसे कर्मबन्धन हुआ है ?

बद्धः स्याद्बद्धयोर्भावः स्यादबद्धोप्यबद्धयोः ।

सानुकूलतया बन्धो न बन्धः प्रतिकूलयोः ॥१०२॥

बद्ध और अबद्धका विवरण—बँधे हुए दो पदार्थोंकी अवस्था-विशेषका नाम बद्ध है । बद्धका अर्थ है बँधा हुआ । जहाँ बंधे हुए की बात आती है वहाँ किससे बंधा हुआ ? इसके उत्तरमें दूसरे पदार्थकी अपेक्षा हो ही जाती है । जहाँ द्वितीय पदार्थोंकी अपेक्षा हो उसे उभय बंध कहते हैं और जहाँ अपने आपमें ही किसी द्वैत बुद्धिसे यहाँ ही अपेक्षा बन जाय वहाँ केवल बंध कहते हैं । तो दो पदार्थोंकी अवस्था विशेषका नाम है बद्धभाव और जहाँ बंधे नहीं हैं दो पदार्थ स्वतंत्र हैं, निराले हैं उनकी अवस्थाका नाम है अबद्ध । जो स्वयं अपनेमें निरपेक्ष है वह अबद्ध है और जो किसी दूसरेका निमित्त पाकर अपने आपमें कुछ विशेष प्रभाववाला बनता है ऐसा जहाँ दोका बन्धन है उसे कहते हैं बद्ध । बंधन वहीं होता है जहाँ बंधके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी सामग्री मिल जाती है, तो अपनी अनुकूलता में ही बंध होता है । प्रतिकूल घटना हो अर्थात् बंधके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव न

हो तो वहाँ बंध नहीं होता। जैसे रागी पुरुष वही भी विषयभूत पदार्थको निरखकर उसमें बंध जाता है, किन्तु वीतरागी साधु ऐसे कितने ही पदार्थ सामने आते हैं किन्तु वह उनमें बंधता नहीं है। तो बंधन वहाँ होता है जहाँ बंधके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी सामग्री मिले। और जहाँ बंधके अनुकूल घटना सामग्री न हो, अपने उपादानमें उस तरहकी योग्यता न हो, बाह्यमें कर्म उपाधिका सन्निधान नहीं है वहाँ बन्धन नहीं होता है।

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो वाच्य तल्लक्षणं त्रयम् ।

प्रत्येकं तद्द्वयं यावत्तृतीयस्तुच्यतेऽधुना ॥१०३॥

**भावबन्ध**—पहिले ही यह बता दिया गया है कि बंध तीन प्रकारका होता है—भाव-बंध, द्रव्यबंध और उभयबंध। जब जैसी दृष्टि लगाकर देखते हैं उस तरहकी बात समझमें आती है। जब केवल इस अवस्थामें भी जीवको ही निहार रहे हैं, जीव स्वयं सत् है, अपने आपकी गुण पर्यायोंका स्वामी है, अपनेमें ही अपना उत्पादव्ययध्रौव्य करता है, इसकी गुण-पर्यायिका, क्षेत्रका कहीं बाहर सम्बन्ध नहीं है और जैसे यह जीव सत् है तैसे ही अन्य पुद्गल सत् हैं तो ऐसे पुद्गलका भी अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे हटकर अन्यमें सम्बन्ध नहीं जुड़ता। तो इस तरहका वस्तुस्वरूप है। तब कैसे कहा जाय कि जीव किसी अन्य पदार्थसे बँधा है, लेकिन देखा जो जा रहा है कि बँधा है, सुख दुःख भोगता है, रागद्वेष करता है, परके आधीन होता है। तो जहाँ केवल एक पदार्थपर दृष्टि दी जा रही है और उसकी अशुद्धताका भी आलोचन किया जा रहा है तो वहाँ यह निर्णय बनेगा कि यह जीव अपने अपराधसे ही पराधीन हो रहा है, किसी दूसरेके आधीन नहीं है। यह है केवल द्रव्यको निरखकर दृष्टिकी बात। इससे कहीं यह बात न बन जायगी कि वह उभयबंध गलत है। उस दृष्टिमें उसकी चर्चा होगी। अभी यहाँ सिर्फ जीवोंको निरखकर देखा जा रहा है। जीव बँधा है, कहाँ बँधा है? अपने विभावोंसे। अपनेमें राग इष्ट बुद्धि आदिक अपराध होते हैं उन अपराधोंसे यह यहीं रहता हुआ अपनेको कायर पराधीन दीन अनुभव करता रहता है, यही उसका बंधन है।

**द्रव्यबंध**—जब कर्मकी ओर दृष्टि देते हैं, कर्ममय बंधन है, तब बंधन तो है ही। जो उनमें द्रव्य है वह द्रव्य यदि अपनी एकाकी हालतमें होता तो उसमें भी प्रकृति स्थिति अनु-भाग बंधकी विडम्बना न बनती। तो कर्मोंमें जो यह विषम विचित्र हालत हो रही है, कर्म रूप योग्य अब उनमें प्रकृति हो गयी, कोई विशेषता तो आयी। ऐसा नहीं है कि इसमें अवि-शिष्ट कर्मका निमित्त सन्निधान हो और जीवमें विशिष्ट भाव हो, विभाव भाव हो जाय वहाँ अनुकूल साधन होता है। कर्मोंमें भी विशिष्टता आयी। उनमें उस प्रकारकी प्रकृति पड़ गई कि ऐसा कर्मविपाक हो तो जीव इस तरहसे अपनी प्रकृति बना लेगा। तो उनमें प्रकृति है, स्थितिबंध भी है कि अब ये कर्म इतने समय तक इस आत्माके साथ बँधे रहेंगे। कुछ हुआ

ना बिगाड़। देखो—जब लड्डू आदिक भोजन थालीमें सजे हुए रखे हैं तो कितने सुन्दर प्रतीत होते हैं। उनकी शोभा भी बड़ी बन रही है, किन्तु उन्हें जब चबा लिया जाता है तबसे ही उनकी अवस्था बिगड़ रही है, विकृत हो रही है और पेटमें पहुंचनेके बाद उनमें ऐसा विपरिणामन हो जाता है कि अब लो भोजनका यह अंश मल, मूत्र, पसीना आदि बनेगा, यह खून इतने महीने कायम रहेगा, यह वीर्य इतने वर्ष कायम रहेगा और ये मल, मूत्र, पसीना आदि इतने घंटे कायम रहेंगे। उनमें जो ऐसी स्थिति पड़ गई है, अनुभाग बनता है कि खूनमें इतनी सामर्थ्य है, वीर्यमें इतनी सामर्थ्य है और मल मूत्रादिकमें इतनी सामर्थ्य है यह सब भी बन्धन बन गया। उनमें यदि मल मूत्रकी सामर्थ्य जो कि बहुत ही कम है वह यदि न हो तो भी जीवन न चलेगा। वैद्यक शास्त्रोंके अनुसार तो दो चार सेर मल तो हर व्यक्तिके पेटमें सदा भरा रहता है। यदि मल भरा न रहे तो इसका मरण हो जाय। तो वह मल मूत्रादि भी सामर्थ्यका ही कारण है। तो यह सब उस भोजनकी विडम्बना बन गई। बनी तो सही, इसी प्रकार उन कार्माणवर्गणाओंमें भी ऐसी विडम्बना बन जाती है कि अमुक कर्मपुञ्जकी प्रकृति इतने अंश बँधेगी, यह कर्म इतने समय तक जीवके साथ रहेगा। यह कर्म इतनी शक्ति का विपाक बनायेगा, और यहाँ इतने परमाणुओंका पुञ्ज बना हुआ है, यह स्पर्धक है, इतने निषेकका है। यह विडम्बना कर्मकी बन गई। वया इसे बन्धन न कहेंगे? तो जब उन कर्मों पर दृष्टि देकर उनके बन्धनकी बात विचारते हैं तो वह सब द्रव्यबन्ध है।

उभयबन्ध—यों भावबन्ध स्वतन्त्र है, द्रव्यबन्ध स्वतन्त्र है, फिर भी ऐसा अपने आपमें रहने वाला बन्ध भी उभयबन्धके बिना नहीं हो सकता। जीव और कर्मका परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भावरूप बन्धन नहीं है। तो विभाव बन्ध भी न होगा और कर्म द्रव्यबन्ध भी न कहलायगा। तो उभयबन्ध भी है। अब निर्णय किया जा रहा है प्रमाणतः। जीवके विभाव का निमित्त पाकर द्रव्यकर्ममें बन्धन हुआ। द्रव्यकर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवमें विभाव का बन्धन हुआ। इस तरह तीन प्रकारके बन्धोंका पहिले निर्देश कर आये हैं। उनमें से अब यहाँ उभयबन्धकी बात कह रहे हैं। वे दो बन्ध तो स्वतन्त्र हैं। केवल द्रव्यमें ही निरखे जाने वाले हैं, जो दो द्रव्योंके सम्बन्धमें निरखा जाता है ऐसे उभयबन्धका अब निरूपण करते हैं।

जीवकर्मोभयोर्बन्धः स्यान्मित्यः साभिलाषुकः।

जीवः कर्मनिबद्धो हि जीवबद्धं हि कर्म तत् ॥१०४॥

उभयबन्धका बिबरण—द्रव्य एक दूसरेकी अपेक्षा लिए हुए जो जीव और कर्म इन दोनोंका सम्बन्ध हुआ है उसीको उभयबन्ध कहते हैं। कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवमें रागद्वेष हुए, यह बात तथ्यभूत है। यद्यपि जीवका रागद्वेषकी ही योग्यताका परिणामन है, वह कर्मका परिणामन न कहलायगा, किन्तु ऐसा परिणामन होना जीवकी किसी शक्तिके ही कारण

नहीं है। उपाधि सन्निधान न हो तो ऐसा परिणमन नहीं होता। दर्पणमें बाहरी पदार्थको प्रतिबिम्बित करनेकी बात पड़ी हुई है, लेकिन बाहरी पदार्थोंका प्रतिबिम्ब दर्पणकी स्वच्छता बिना नहीं आया। दर्पणमें उस प्रकारकी स्वच्छता न हो तो प्रतिबिम्ब नहीं आ सकता, पर साथ ही यह भी बात है कि उपाधि सन्निधान न हो तो प्रतिबिम्ब नहीं आ सकता। सो तथ्य सब है लेकिन कोई केवल एक दर्पणको ही निरख करके देखे तो भी तो वह यह बता सकता है कि दर्पणमें जो यह प्रतिबिम्ब हुआ है यह दर्पणका परिणमन है, अन्यका परिणमन नहीं। लेकिन इस बातको मना नहीं किया जा सकता कि दर्पणमें यह प्रतिबिम्ब परिणमन मात्र दर्पणकी शक्तिसे नहीं हुआ है, वहाँ उपाधिका सम्बन्ध है तब दर्पणमें प्रतिबिम्ब परिणमन हुआ है। यदि शक्तिस्वभावसे ही प्रतिबिम्ब हुआ हो तो वह प्रतिबिम्ब सदा रहना चाहिए। किन्तु नहीं रहता सदा? उसका कोई उत्तर तो दिया जाना चाहिये। यह उत्तर देना कि दर्पणमें उस समयकी ऐसी योग्यता है यह तो केवल एक हठवादका उत्तर है। हो रहा है, दर्पणमें वह बात चल रही है, मानी जा रही है, देखी जा रही है किन्तु निर्णयकी बात निर्णय के ढंगसे होती है। तो कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवमें बन्धन है और जीवके विभावका निमित्त पाकर कर्ममें बन्धन है। जीव तो कर्मसे बँधा हुआ है और कर्म जीवसे बँधे हुए हैं। यही परस्पर सापेक्ष उभयबन्ध कहलाता है।

तद्गुणाकारसंक्रान्तिर्भावो वैभाविकश्चित्तः ।

तन्निमित्तं च तत्कर्म तथा सामर्थ्यकारणम् ॥१०५॥

**बन्धके कारणका समीक्षण**—इस गाथामें बन्धके कारणपर विचार किया गया है। बन्ध क्या कहलाता है? जीवमें बन्धन है—इसका भाव यह है कि जीवके गुण अपने स्वरूपसे चिगकर दूसरे रूपमें आ गए। बन्धका यही अर्थ है। जो उसमें स्वाभाविक था वह न रहकर कोई दूसरे रूप आ गया, यही कहलाता है बन्धन। हंस जब जंगलमें स्वतंत्र रहता है तो उसकी चाल देखिये कितनी सुन्दर होती है? ठुमक-ठुमककर चलता है, कौसी स्वच्छन्दता और साम्राज्यका अनुभव करता हुआ मस्त रहता है। वही हंस जब पिंजड़ेमें आ जाय, उसे समय पर खाना पीना दिया जाय, आराम सब दिये जावें, किन्तु वह मनचाहा विहार न कर सके, ऐसे बन्धनमें रहने वाले हंस की देखिये बन्धनके समयमें क्या गति हो गयी? अब उसकी वह मस्त चाल न रही। वह स्वतंत्र होकर अपने साम्राज्यका अनुभव करता हुआ नहीं परिणम रहा। उसकी चालमें अन्तर आ गया। तो हो क्या गया? अपनी स्वाभाविकतासे चिगकर अब यहाँ दूसरे ढंगमें आ गया। यही तो उसका बन्धन है, अन्यथा बतलाओ हंस अगर पिंजड़े में बन्द है तो भी उसपर बन्धन क्या? बन्धन नाम तो इसीका है कि अपने गुण स्वरूपसे चिगकर अन्य रूपमें आ जाय। इसीको वैभाविक भाव कहते हैं। यही हम आप लोगोंपर



संकट है। हम जैसे हैं, सहज हमारा जो स्वरूप है, सहज सत्त्व है, वह बना रहे, कोई संकट नहीं, पर उस स्वरूपसे चिगकर जब हम अन्यमें उपयोगी बनते हैं यही तो हमारे लिए संकट है। अन्यथा यही तो करना है। अपने प्राप्त इस जीवनसे अनेक घटनायें ऐसी आती हैं कि जिससे यह चित्त क्रोधमें आ जाता है, कुछ अहंकारका परिणाम बन जाता है, कुछ अपनी पोजीशनका लोभ बन जाता है। उन अनेक घटनाओंमें भी हमें अपने स्वरूपकी सहाल रखना है। अगर किसी जीवने कुछ कह दिया तो उसपर हम क्यों यह आग्रह बना लें कि मुझे तो यों करना चाहिए और इसकी बात नहीं रहने देना है। अरे इसे उपेक्षाभावसे ऐसा तर्जें कि अगर कोई ऐसा परिणमता है तो परिणामे, हमें तो ऐसी हिम्मत बनाना है। पद-पदपर साहस बनाना है और अपने अन्तः इस निर्णयमें रहना है कि मुझको तो केवल दो ही कार्य हैं। जो व्यक्त शुद्ध परमात्मा हैं उनके स्वरूपका ध्यान बने और मेरेमें जो सहज शुद्ध ज्ञानस्वरूप है उस स्वरूपमें उपयोग बने, इसके अतिरिक्त कोई तीसरा काम मुझे नहीं करना है। हाँ यदि व्यवहार धर्मके नाते कोई काम किया जा रहा है तो उसमें जब इन दो बातोंका सम्बन्ध हो तब किया जाना चाहिए। तो क्या है बन्धन ? विभाव भावका आना—यही जीवके लिए बन्धन है और यही जीवका भाव कर्मके बन्धमें कारण है, और वही कर्म जो वैभाविक भावके निमित्तसे बँधा है वह जीवके विभाव भावकी निष्पत्तिमें कारण बनता है, तो परस्पर एक दूसरेका कारण बन रहा है, तो कह सकते कि परस्पर एक दूसरेके कार्य हो रहे हैं।

अर्थोयं यस्य कार्यं तत् कर्मणस्तस्य कारणम् ।

एको भावश्च कर्मकं बन्धोयं द्वन्द्वजः स्मृतः ॥१०६॥

विभाव और कर्मबन्धमें परस्पर कार्यकारण भाव—बन्धके कारणोंपर जो उक्त श्लोकों में विचार किया गया है उसका सारांश यह है कि देख लीजिए कि जिस कर्मका यह विभाव-कार्य है, यह विभाव उसी कर्मका कारण बन जाता है। यहाँ जाति अपेक्षा बात कही गई है। कहीं ऐसा न समझना कि जिस कर्मोदयसे जो विभाव बना है वही विभाव भाव उस कर्मोदय का कारण बन जाय। देखिये विभाव भाव भी तो नवीन कर्मबन्धका कारण नहीं है साक्षात् रूपसे। तो नवीन कर्म भी तो कर्म ही कहलाते हैं और जब कर्मोका उदय आता है तो नवीन विभाव होते हैं। सो वे भाव भी तो विभाव ही कहलाते हैं, ऐसा जानकर यह कह लीजिए कि विभाव कर्मोका कारण है और कर्मका कार्य है। कर्म भी विभावका कारण है और विभाव कार्य है। यहाँ यह कारण कार्य भाव निमित्तनैमित्तिक भावकी दृष्टिसे कहा जा रहा है, परिणतिकी दृष्टिसे नहीं। वहाँ ऐसा एक नियोग है कि इस प्रकारकी प्रकृति उदयमें आये तो जीव में इस प्रकारका विभाव निष्पन्न होता है। विभाव आया जीवके परिणमनसे, जीव पदार्थमें जीवकी योग्यतासे, लेकिन जीवने जो अपनेमें ऐसा प्रभाव बनाया है वह प्रभाव कर्मविपाकका

निमित्त पाकर बना है। जैसे स्थूल दृष्टान्त लोजिए—मैं इस चौकीपर बैठा हूँ तो मेरे इस प्रकारके बैठनेमें यह चौकी निमित्त है। लेकिन चौकीने अपनी परिणतिसे मुझे बैठाया ही या मेरे बैठनेकी परिणति इस चौकीने की हो तब तो कहते कि चौकीने मेरे बैठनेकी परिणति कर दी, किन्तु ऐसा तो नहीं है। चौकी तो अब भी जैसी स्थूल पड़ी है अपने आपमें विराजी हुई मात्र है। उसमें उसकी कोई ऐसी बात नहीं आयी मुझमें कि बैठनेकी बात बन जाय। मैं ही खुद सब समझ रहा था कि इस चौकीपर हम बैठ सकते हैं तो हमने ही अपने आपमें अपनी क्रिया करके इस प्रकारकी बैठनेकी परिणतिका परिणाम किया है। यहाँ निमित्त-नैमित्तिक भावसे देखा जाय तो मेरे बैठनेमें चौकी निमित्त है, पर उस निमित्तका इस मुझ आत्मामें क्या आया? सो बताइये। इसी प्रकार कर्मविपाकका निमित्त पाकर जीवमें रागद्वेषादिक विभाव हुए हैं। यह बात अवश्य है कि जीवके विभावपरिणामरूप प्रभाव कर्मविपाकका निमित्त पाकर हुआ है परन्तु वह प्रभाव कर्मका नहीं है। कर्म तो वहाँ निमित्त मात्र है। प्रभावरूपसे जो बना वह प्रभाव उसीका है। तो इस तरह यद्यपि परिणतिकी दृष्टिसे जीव और कर्ममें कारण कार्य भाव नहीं है, पर निमित्तनैमित्तिक भावकी दृष्टिसे निरखा जाय तो विभाव कर्मका कार्य है और विभाव कर्मका कारण भी है। इसी प्रकार वह कर्मबन्ध, वह कर्म अवस्था विभावका कार्य है और विभावका कारण भी है। इस तरह जीव और कर्म परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावमें सापेक्ष होते हुए बँधे चले आ रहे हैं, यह अनादिसे परम्परा चली आ रही है। जिस ही समय जीव भेदविज्ञान करेगा और कर्म, कर्मसम्बन्ध, विकार—इनसे उपेक्षित होकर विभावमें दृष्टि करेगा, तबसे इसका मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जायगा।

तथाऽऽदर्शं यथा चक्षुः स्वरूपं संदधत्पुनः ।

स्वाकाराकारसंक्रान्तः कार्यं हेतुः स्वयं च तत् ॥१०७॥

उदाहरणपूर्वक एक ही पदार्थमें कार्यकारणभावका प्रकाशन—जीवका विभाव कर्मबन्धका कारण है और कर्म जीवके विभावका निमित्त है। इस बातको उक्त श्लोकमें बताया गया था और वहाँ यह भी स्पष्ट कहा गया था कि यह जातिकी अपेक्षा कार्यकारणभावकी बात कही गई है, क्योंकि जो ही विभाव किसी कर्मका कारण है वही विभाव उस कर्मबन्धका कारण नहीं है, और जो ही कर्मविपाक जिस विभावका कारण है वही कर्म उस विभावका कार्य नहीं है। रागद्वेषादिक विभावोंके निमित्तसे नवीन कर्मका बन्ध होता है और कर्मोदयके निमित्तसे नवीन विभाव उत्पन्न होते हैं, फिर भी विभावकर्मका कारण है और कर्मका कार्य है, कर्मविभावका कारण है और विभावका कार्य है यह सामान्यतया सिद्ध हो जाता है। इसी बातको इस श्लोकमें उदाहरणपूर्वक स्पष्ट किया गया है। जैसे दर्पणमें मुख देखनेसे चक्षुका

प्रतिबिम्ब दर्पणमें आ जाता है। अब उस समय निरख लीजिए अपने प्रतिबिम्बमें कारण वह चक्षु है याने दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब आया है वह किस निमित्तसे आया है? आँखके निमित्तसे आया है, आँखसे वहाँ प्रतिबिम्ब आया है। तब आँख तो कारण हुआ और प्रतिबिम्ब कार्य हुआ। यह निमित्तनैमित्तिक भावकी दृष्टिसे कहा जा रहा है। अब देख लीजिए कि वही चक्षु के आकारको धारण कर रहा, वह चक्षुप्रतिबिम्ब अपने देखनेमें कारण भी है याने हमने चक्षुको देखा कैसे? यदि चक्षुमें कोई कीचड़ लगा है या कोई फुंसी है तो उसको हम कैसे देख पाते हैं? दर्पणमें देखते हैं तब समझ पाते हैं, तो दर्पणका वह प्रतिबिम्ब अब चक्षुके देखनेमें कारण बन गया है। जब आँखोंसे दर्पणको देखते हैं तो वहाँ चक्षुका आकार दर्पणमें आया, इस कारणसे तो वह आकार चक्षुका कार्य कहलाया, क्योंकि चक्षुके निमित्तसे वह प्रतिबिम्ब बना है लेकिन उसी आकारको जब हम अपने चक्षुसे देखते हैं तो वह आकार इस चक्षु के देखनेमें, उस चक्षुका अस्तित्व बतानेमें कारण बन रहा है। तो एक ही पदार्थमें कारण कार्य भाव है—यह बात इस दृष्टान्त द्वारा कही गई है। ऐसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए कि वही आत्मविभाव कारण बन रहा है कर्मबन्धका और वही आत्मविभाव कर्मविपाक का कार्य बन रहा है। ऐसे ही कर्मके सम्बन्धमें भी घटित करना चाहिए। कर्मबन्धमें विभाव का कार्य है और कर्म विभावका कारण भी है।

अपि चाचेतनं मूर्तं पौद्गलं कर्मं तद्यथा ।

.....॥१०८॥

जीवभावविकारस्य हेतुः स्याद्द्रव्यं कर्मं तत् ।

तद्धेतुस्तद्विकारश्च यथा प्रत्युपकारकः ॥१०९॥

अचेतन मूर्तं पौद्गल कर्ममें व जीवभावविकारमें प्रत्युपकारकत्वकी भांति परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव सम्बन्ध—उक्त प्रकरणमें यह बताया है कि जो अचेतन पौद्गलिक मूर्त कर्म हैं वे जीवके विभावका कारण हैं, क्योंकि पूर्वमें जो कर्म बंधे थे उनका जब उदयकाल आता है तो उस उदयकालके निमित्तसे यहाँ जीवमें रागद्वेषादिक विभाव होते हैं। तो यों द्रव्यकर्म जीवके विभावका कारण बना और उस द्रव्यकर्मका कारण वह पूर्वका वैभाविक भाव था और यह जो अब विभाव हुआ है वह नवीन कर्मका बंध कर रहा है। तो इसमें जो परस्पर कार्यकारणपना है वह इस प्रकार है कि मानो एक दूसरेका परस्पर उपकारका बदला चुका रहे हों। जीवमें विभाव होते जा रहे हैं तो विभावका कुल चल रहा है। उस कुलकी रक्षा ये द्रव्यकर्म कर रहे हैं और द्रव्यकर्म बँधते जा रहे हैं। उनकी रक्षा याने द्रव्यकर्म रहे आयें उनकी रक्षा ये विभाव कर रहे हैं। तो मानो इन दोनोंमें बड़ी मित्रता हो गयी कि वे एक दूसरेका भला चाह रहे हैं। विभाव खतम न हो जायें, विकार बने रहें, ऐसा तो विकारों

का अस्तित्व बना रहना यह कर्मने किया और कर्म बराबर बँधते चले जायें, इस तरह कर्म-कुलका बढ़ावा इन विभावोंने किया। तो मानो ये परस्पर एक दूसरेके उपकारका बदला ही दे रहे हों। इसको इस ढंगसे निरख सकते। जैसे समयसारमें आया है कि आत्मा प्रकृतिके अर्थ उत्पन्न होता और विनष्ट होता और प्रकृति भी आत्माके अर्थ उत्पन्न होती और विनष्ट होती। यहाँ अर्थका अर्थ निमित्त लिया जाता है तो उसका अर्थ यों हुआ कि जीव कर्मके लिए विभाव भावोंसे उत्पन्न होता और विलीन होता और कर्म जीवके विभाव भावोंके लिए उत्पन्न होता और विनष्ट होता। एक दूसरेमें निमित्त है पर यहाँ मित्रताके ढंगसे देखो तो प्रकृति जो उत्पन्न और विनष्ट होती है, कर्मका बंध होना, उदय होना, कर्ममें ये सब श्रम होना यह जीवविभावकी भलाईके लिए हो रहा है कि विभाव कहीं नष्ट न हो जायें, उनकी देखरेख और उनकी रक्षा ये कर्म कर रहे हैं। इसी प्रकार जीव विभाव कर्मके लिए उत्पन्न होते और नष्ट होते हैं। और ये कर्म कहीं हट न जायें और नष्ट न हो जायें, इतकी परम्परा बनी रहे, इनका कुल बढ़े इसके लिए ये जीवविभाव अपना उत्पाद विनाश कर रहे हैं। तो यों मानो इन दोनोंमें परस्पर उपकारका बदला चुकानेकी बात बन रही है।

चिद्विकाराकृतिस्तस्य भावो वैभाविकः स्मृतः ।

तन्निमित्तात्पृथग्भूतोप्यर्थः स्यात्तन्निमित्तकः ॥११०॥

जीवविभाव व पुद्गल कर्ममें परस्पर कारणताका कारण—जीव विभावमें और द्रव्यकर्ममें परस्पर कारणता क्यों हुई है ? इस बातका संकेत इस श्लोकमें किया जा रहा है। जीवविभाव क्या चीज है ? जीवमें विकारपरिणमन हो जाना यही तो वैभाविक भाव कहलाता है। शुद्ध अवस्थासे चिगकर जो विकार अवस्था जीवमें आती है वही जीवका वैभाविक भाव है और उस वैभाविक भावके निमित्तसे यह द्रव्यकर्म जो कि अत्यन्त पृथक् हैं, उनका बंध होता है। तो वैभाविक भाव तो पुद्गलकर्मके लिए निमित्त बना और पुद्गलकर्म वैभाविक भावके लिए निमित्त बना। यद्यपि ये दोनों परस्पर विपरीत स्वभाव रख रहे हैं। पुद्गल कार्माणद्रव्य तो जड़ पदार्थ हैं और जीव चैतन्यस्वरूप है, लेकिन जीवमें जो अशुद्ध भाव हैं उन अशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर ये कर्म खिच-खिच कर या अकर्मरूप अवस्थाको तजकर कर्मरूप हो जाया करते हैं। फिर ये कर्म बंध गए और बंधनेके साथ ही इनमें स्थिति पड़ गई। अब उदयकाल जब आता है तो ये ही जड़ कर्म चैतन्यके भावोंके बिगाड़नेमें कारण बन जाते हैं। यों इनमें परस्परकी निमित्तता ही कारण है। तो यों जीवविभाव और पुद्गलकर्म इन दोनोंमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव बन रहा है। इस कारणसे जीव परतंत्र बन रहा है, कर्म भी परतंत्र बन रहा है। यद्यपि जीव और कर्ममें जो अवस्था बन रही है वह अवस्था उनकी उनमें हो रही है, किन्तु यह परतंत्रता आयी क्यों ? इसका कारण बताया

है कि इनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है। इस ही बातको अब अगले श्लोकमें स्पष्ट करते हैं।

तद्धि नोभयबन्धाद्वै बहिर्बद्धाश्चिरादपि ।

न हेतवो भवन्त्येकक्षेत्रस्याप्यबद्धवत् ॥१११॥

जीवविभाव व पौद्गलकर्ममें कारणता होनेमें उभयबन्धकी कारणरूपता—जो कुछ जीव और कर्मके बंधके सम्बन्धमें बताया गया है वह सारी विडम्बना प्रत्येककी उनकी उनमें हो रही है। लेकिन ये सब कुछ उभयबंधसे बाहर नहीं हैं, अर्थात् उभयबंध हुए बिना जीव और द्रव्यकर्ममें भावबंध और द्रव्यबंधकी बात नहीं बन सकती। बंध ३ प्रकारका बताया गया है—भावबंध, द्रव्यबंध और उभयबंध। भावबन्धका अर्थ है जीवमें विभावोंका बन्ध होना। तो वहाँ बन्ध किसका है? तो बन्ध समझानेके लिए दो बातोंको समझना ही पड़ेगा। जो भावबन्ध समझना है तो स्वभाव और विभाव इन दोनोंको सामने रखें। स्वभाव में विभावका बन्ध है अर्थात् जीवमें विभाव परिणाम आये हैं। जीव एक ध्रुव चीज है और उसमें ये विभाव आये हैं। यह उसका बन्ध है। इस प्रकार द्रव्यकर्ममें भी बन्ध हो गया है। तो द्रव्यबन्ध जरा यों भट समझमें आता है कि वे अनेक पुद्गल परमाणु हैं। तो अनेक पुद्गल परमाणुओंका मिलकर बन्ध जाना यह एक बन्ध है, लेकिन यह तो सभी स्कंधोंमें होता रहता है। उसकी यहाँ प्रमुखता न लेना, किन्तु उन पुद्गलकर्मोंमें भी जो कर्मरूपता आयी है केवल अकर्मरूपताकी अवस्थासे हटकर कर्मरूपताकी अवस्थाका आना यह उनमें द्रव्यबन्ध है। तो यों भावबन्ध जीवमें है, द्रव्यबन्ध कार्माणवर्गणाओंमें है, फिर भी यह विडम्बना उभयबन्धके बिना नहीं हो सकती।

उभयबन्धके बिना जीवविभाव व कर्ममें कारणता माननेपर दोषापत्तिका प्रसङ्ग— यदि उभयबन्धके बिना ऐसी विडम्बना बन जाय या समझिये कि बिना कर्मरूप अवस्था धारण किए ही यदि ये कर्म पुद्गल जीवके विकारका कारण बन जायें, इनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक बन्धन और उभयबन्धनकी बात न निरखकर जीवके भावबन्धको माना जाय तब तो इस जीवमें चिरकालसे विस्त्रसोपचय स्कंध भी पड़े हुए हैं। वे विस्त्रसोपचय कार्माणवर्गणा जातिके हैं। तो उन विस्त्रसोपचयके कारणसे फिर बन्ध क्यों न हो लेगा? जब उभयबन्ध नहीं माना जा रहा और कर्मरूप पुद्गल अवस्था न हो तब भी जीवमें विभाव मान लिया गया। एक अविशिष्ट साधारण कर्म ही बन्धके विभावके कारण हो गए तो जीव में ही तो बहुत कालसे विस्त्रसोपचय बँठे हुए हैं। वे क्यों नहीं विभावभावके कारण हो जाते हैं? विस्त्रसोपचयका अर्थ है—स्वभावसे ढेर लगा रहना। तो जो पुद्गलपरमाणु याने कार्माण स्कंध कर्मरूप तो न बनें, किन्तु आत्माके एक क्षेत्रावगाहमें हैं और कर्मरूप परिणत होनेके

लिए तत्पर रहते हैं, कर्मताके पात्र हैं ऐसे पुद्गल परमाणुओंका जो स्कंध है उसे विस्त्रसोपचय कहते हैं। तो विस्त्रसोपचय बन्धरूप अवस्था नहीं है याने उनकी कर्मसंज्ञा नहीं है, लेकिन जीव जिस समय कषायभाव करता है तो आत्माके उन रागद्वेषादिक भावोंका निमित्त पाकर ये विस्त्रसोपचय और उसीके साथ और भी कार्माणवर्गणायें ये कर्मरूप हो जाते हैं। तो यों कर्मरूपता आनेपर वहाँ कर्मसंज्ञा हो जाती है और ऐसा कर्मत्व आनेसे पहिले तो उनकी कार्माण संज्ञा थी। वे कार्माण कहलाते थे और अब कर्मरूप होनेपर इसे कर्म कहेंगे। कार्माण शरीर कहेंगे। तो ये विस्त्रसोपचय तो इतने भरे पड़े हैं इस जीवके क्षेत्रमें कि जितने कर्म बंधे हुए हैं उनसे भी अनन्तगुने हैं। विस्त्रसोपचय कार्माणवर्गणायें गणना बद्धकर्मसे अनन्त गुनी है। तो इतने ये विस्त्रसोपचय भरे हैं और जीवके साथ ही बने रहते हैं कि जीव जहाँ जाय तो ये विस्त्रसोपचय भी जायें। मरण करके अन्य गतियोंमें जन्म ले तो ये उसके साथ भी जायें, ऐसा एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है, फिर भी विस्त्रसोपचय जीवके विभावका कारण नहीं बनता है। तो अब उभयबन्ध न माना जाय और कर्मरूप अवस्थाको प्राप्त कर्म माने बिना ही जीवमें विभाव मान लिया जाय तो इस विस्त्रसोपचयके निमित्तसे भी जीवमें विभाव भाव हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं है। इससे सिद्ध है कि जो विभाव की विडम्बना है और कार्माणवर्गणायें प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग बंधमें विडम्बना हैं सो ये उनकी उनमें हो रही हैं, फिर भी उभयबंधसे बाहर ये घटनायें नहीं हैं।

तद्वद्धत्वाविनाभूतं स्यादशुद्धत्वमक्रमात् ।

तल्लक्षणां यथा द्वैतं स्यादद्वैतात्स्वतोन्यतः ॥११२॥

**बद्धताकी अविनाभाविनी अशुद्धता**—जीव बद्ध है—यह बात इस प्रसंगमें वैसी जोड़ी जा रही है ? तो वहाँ यह भी समझना चाहिए कि आत्माकी जहाँ बद्धता है उसी समय वहाँ अशुद्धता भी है। बद्धता और अशुद्धता इन दोनोंका परस्पर अविनाभाव है, ऐसा नहीं है कि आत्मा अशुद्ध तो नहीं है और बद्ध है, और यह भी नहीं है कि आत्मा बद्ध तो नहीं है और अशुद्ध है। आत्मामें बद्धता और अशुद्धता दोनोंका ही सम्बन्ध है, और उस अशुद्धताका लक्षण यह बन रहा है कि आत्मा तो स्वयं अद्वैत है, एक है, एक स्वरूप है, किन्तु वह अन्य पदार्थ के निमित्तसे द्वैतरूप हो जाता है। इस श्लोकमें यह बात कही जा रही है कि जिस समय आत्मा कर्मोंसे बद्ध है उसी समय अशुद्ध भी है। यदि अशुद्धता न हो तो बद्धता हो ही नहीं सकती और बद्धता न हो तो अशुद्धता भी नहीं हो सकती। इनमें ऐसा परस्पर अविनाभाव है, अब स्वभावदृष्टिसे देखते हैं तो इनमें परस्पर मेल नहीं बैठता। जीव तो चैतन्यस्वरूप है, पुद्गल कर्म जड़ हैं, इनका आपसमें कोई मेल नहीं बन रहा है और ये अपने आपमें अद्वैत हैं, एक हैं, पृथक् हैं, अपने-अपने स्वरूपको रखने वाले हैं, फिर भी परपदार्थका निमित्त पाकर जो

अशुद्धता जीवमें बन रही है बस इसीसे यह आत्मा द्वैतरूप बन रहा है, नाना स्वभावरूप बन रहा है। आत्माकी शुद्धता और बद्धताको सिद्ध करनेके लिए अधिक क्या प्रयास करना? अपने आपकी जो स्वयंकी आज स्थिति है इसी स्थितिसे जाना जा सकता है कि आत्मा अशुद्ध है और बद्ध है, और यह बना कबसे? तो यह भी विदित हो जाता कि यह परम्परा अनादि से चली आ रही है, क्योंकि इसमें कुछ एक न मानें तो दूसरी भी बात नहीं बनती। मान लो इसमें कर्मबंध न था तो अशुद्धता कैसे आयी? आत्मा अशुद्ध न था तो कर्मबद्धता कैसे आयी? कोई वजह नहीं है कि इसमें एकके बिना दूसरी बात आ सके। इससे सिद्ध है कि अशुद्धता और बद्धताकी परम्परा अनादिसे चली आयी है।

तत्राऽद्वैतेऽपि यद्वैतं तद्विधाप्यौपचारिकम् ।

तत्राद्यं स्वांशसंकल्पश्चेत्सोपाधि द्वितीयकम् ॥११३॥

आत्मामें द्विरूपताका प्रकार—अब यहाँ इस अद्वैत आत्मामें निरखिये कि इसमें यह द्वैतभाव आया तो किस तरह आया? क्या बात इसके अन्दर है? आत्मा तो अपने चैतन्य-स्वरूप रूप है, अद्वैत है और उसमें जो यह द्वैत आया है, इसमें जो दुविधा आयी है वह सब औपचारिक है, अथवा यह जो नाना प्रकारका मेल बन रहा है यह सम्बन्धसे बन रहा है, स्वतः शक्तिसे नहीं बन रहा है और इस स्थितिमें जो अशुद्धताकी बात है, द्विरूपताकी बात है तो इसमें एक अंश तो स्वयं आत्माका है और दूसरा अंश उपाधिसे होने वाले पदार्थका है। इसे यों मान लीजिए कि वे जो विकार हुए हैं उन्हें हम केवल आत्मासे नहीं कह सकते। केवल कर्मके नहीं कह सकते। जो रागद्वेषादिक विभाव हैं उन्हें हम यदि आत्माके कहेंगे तो फिर आत्माके सदा रहा करेंगे। जो आत्माका सहजभाव है, आत्माका जो कुछ है वह आत्मा में सदा रहता है। तो हम विभावोंको आत्माका नहीं कह सकते और यों भी नहीं कह सकते कि हम निरख रहे हैं दर्पण और प्रतिबिम्बके क्षेत्रकी बाहरी चीजें दर्पणके सामने आयें, वहाँसे हटें, जल्दी-जल्दी आयें जायें तो वहाँ हम प्रतिबिम्बकी दशा देखते हैं कि वह भी आये हटे मिटे तो प्रतिबिम्बको हम दर्पणका कैसे कहें? इसी तरह जो रागद्वेषादिक औपाधिक भाव हैं, उपाधिके सन्निधान और असन्निधानमें जिनका आना जाना है, कैसे कह दें कि आत्माके हैं ये सब विकार और कर्मको भी कैसे कह दें कि ये रागद्वेषादिक कर्मके विकार हैं, क्योंकि कर्ममें रागद्वेष परिणामन नहीं होता। रागद्वेष प्रवृत्तिका अर्थ दूसरा है। जो इस तरह प्रीति रूप परिणाम बन रहा है, यह परिणामन कर्मका नहीं है, वह तो जीवका हो रहा है। तो कर्मको भी विकार नहीं कह सकते। तब ऐसा समझना होगा कि कर्मका निमित्त पाकर जीव का विकारपरिणामन हुआ तो इसमें दोनोंका अंश आ गया। एकको निमित्तरूपसे कह लीजिए और एकको उपादानरूपसे कह लीजिए। इस तरह आत्मामें जो यह दुविधा आयी है वह इस

तरह कर्म और आत्माके मेलसे आयी है, उसे किसी एकका नहीं कहा जा सकता है ।

ननु चैकं सत्सामान्यात् द्वैतं स्यात्सद्विशेषतः ।

तद्विशेषेपि सोपाधि निरुपाधि कुतोर्थतः ॥११४॥

अपिचाभिज्ञानमत्रास्ति ज्ञानं यद्रसरूपयोः ।

न रूपं न रसो ज्ञानं ज्ञानमात्रमथार्थतः ॥११५॥

पदार्थमें सामान्य विशेष होनेसे अन्य अशुद्धताके अनवकाशकी आरेका—यहाँ शंकाकार कहता है कि जीवमें बद्धता और अशुद्धताकी क्या आवश्यकता है ? जब कि पदार्थ सामान्य विशेषरूप होता है । प्रत्येक पदार्थमें ये दो बातें हैं कि वह सामान्यरूप भी है और विशेषरूप भी है । तो सामान्य रीतिसे तो वह एक पदार्थ है और विशेष रीतिसे उसमें दुविधा है, अनेक प्रकारता है, तो जब पदार्थमें स्वभाव ही ऐसे दो हैं कि वह सामान्यरूप रहे और विशेषरूप रहे तो सामान्य रूपमें तो आत्मद्रव्य है, एक समान है, सबमें एकपना नजर आता है और विशेष रूपसे उनमें अनेकता होती है । तो जो कुछ भी ज्ञानमें दुविधा आयी है या कुछ विकल्प आ रहे हैं या और कुछ भी ज्ञानकी नाना परिणतियाँ बन रही हैं वे विशेष तत्त्व के कारण बन रही हैं, ऐसी विशेषता होना द्रव्यका स्वभाव है तो जब पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है तो उस ही विशेषतत्त्वके कारण ज्ञानके नाना परिणामन सिद्ध हो जायेंगे, फिर अशुद्धता माननेकी क्या जरूरत है ? जीवमें जो ज्ञान नाना तरहकी इष्ट अनिष्ट आदिक बुद्धियाँ चल रही हैं वे पदार्थकी विशेषतायें हैं और उस विशेष धर्मके कारण ये हो रही हैं, अशुद्धता मानना व्यर्थ है । तो यों सामान्यविशेषात्मक पदार्थ होनेके कारण ज्ञानमें भी सामान्यविशेषात्मकता पड़ी है । तो सामान्यसे तो एक है और विशेष दृष्टिसे नाना तरहका बन रहा है, फिर सोपाधि और निरुपाधिका फर्क डालना व्यर्थ है, वह तो उसका स्वभाव है । विशेषरूपसे परिणामे और देख लीजिए । ऐसा अनुभव भी बतलाता है कि ज्ञान रूप रसको जानता है तो ज्ञान तो सामान्यतया एक है और विशेषतासे देखो तो यह रसज्ञान है, यह रूपज्ञान है । ये नाना तरहके ज्ञान परिणामन बन गए हैं और उससे भी बात यह देख रहे हैं कि रूपज्ञान रसज्ञान आदिक नाना तरहके परिणामन भी बन गए हैं, तिसपर भी ज्ञान रूप, रस आदिक नहीं बन गया । यह भी जाहिर हो रहा है । तो इसी तरह ज्ञान जो कुछ भी जान रहा है तो वह ज्ञानकी विशेषता है और जैसा कुछ जान रहा है उस रूप यह हो नहीं जाता, फिर अशुद्धता और चीज क्या रही ? शंकाकारका यहाँ आशय है कि जो कुछ है आत्मामें वह सब ज्ञानका परिणामन है । जिसे लोग दुःख समझते हैं, सुख समझते हैं वह भी क्या है ? अज्ञान का परिणामन है । इन दुःखसुखादिकमें भी क्या हो रहा है ? बस ज्ञान ही तो किसी रूपका बन रहा है । ज्ञानका नाना रूप परिणाम जाना, यही तो ज्ञानकी विशेषता है । उसमें अशुद्धता



माननेकी बात क्या आयी ? यों अशुद्धता कोई चीज नहीं है । वस्तु है वह सामान्यविशेषात्मक है । ज्ञान है वह भी सामान्यविशेषरूप है । सामान्यतया ज्ञान एक है और विशेषरूप से ज्ञानके नाना परिणामन चल रहे हैं । इस कारण यहां अशुद्धता न कहलायेगी । अब इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं ।

नैवं ज्ञप्तो विशेषोस्ति सद्विशेषेपि वस्तुतः ।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्वाभ्यां वै सिद्धसाधनात् ॥११६॥

अन्वयव्यतिरेक द्वारा अशुद्धताकी सिद्धि करते हुए उक्त आरेकाका समाधान—उक्त शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यद्यपि सत् पदार्थमें ये दो बातें हैं स्वभावतः कि वह सामान्य रूप है और विशेषरूप है, तो इसका यथार्थभाव समझना चाहिए कि सामान्यरूपसे तो एक है, वह तो शंकाकारने भी मान लिया है, अब विशेषरूपसे किस तरहका विशेषरूप है—यह समझना चाहिए । तो पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है, ज्ञान सामान्यविशेषात्मक है । इतना माननेके बाद भी उस विशेषमें जो और विशिष्टता आती है पदार्थके स्वभावके कारण जैसा विशेषात्मक होना चाहिए उसका तो निषेध नहीं है किन्तु उससे और बढ़ करके जो विशिष्टता आती है उसका कोई कारण अवश्य होता है, और जब उपाधि होती है तब वह विशिष्टता आती है । किन्तु पदार्थमें स्वभावमात्र सामान्य विशेषता रही तो वहाँ निरुपाधिपना है । ये सब बातें सिद्ध होती हैं, पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है, ज्ञान सामान्यविशेषात्मक है । इसका अर्थ यह है कि सामान्य दृष्टिमें तो ज्ञान ऐसा शुद्ध ज्ञान है कि जो सर्व परिणतियोंमें रहता हुआ किसी एक परिणति रूप ही नहीं हो जाता है, वह तो है सामान्यज्ञान । और विशेषज्ञान वह है कि ज्ञान में जो परिणामन है, जानन है, अर्थविकल्प है, ज्ञेयाकार परिणामन है वह जानकारी, वह है ज्ञानका विशेषपरिणामन । अब इतने विशेष परिणामनसे और आगे जो ज्ञानमें विशिष्टता आती है, इष्ट बुद्धि करना, अनिष्ट बुद्धि करना, कभी दुःख अनुभव करना, यह तो ज्ञानके स्वभाव वाली विशेषता नहीं है । यह तो उससे आगेकी विशेषता है । तो ऐसी विशेषता जिसके साथ अन्वयव्यतिरेक जुड़ा हो वह पदार्थके स्वभावके कारण वाली विशेषता नहीं है, किन्तु उपाधि के सम्बन्ध वाली विशेषता है । ज्ञान पदार्थको जानता है और जानता रहता है । प्रतिक्रामें जानकारी बनती चली जा रही है तो यह तो है ज्ञानकी विशेषता प्राकृतिक, किन्तु वहाँ जो और विशेषता आयी, आकुलताका दुःखका अनुभव हुआ ऐसी विशेषतायें हैं वे ज्ञानकी प्राकृतिक विशेषतायें नहीं हैं, किन्तु उपाधिके सम्बन्धसे होने वाली विशेषतायें हैं, क्योंकि इनके साथ अन्वयव्यतिरेक पाया जाता है ।

ज्ञान ज्ञेयमें अन्वयव्यतिरेक न होकर जीवविभाव व कर्ममें अन्वयव्यतिरेक देखा जाने से अशुद्धता व सोपाधिताकी सिद्धि—कोई यदि कहे कि ज्ञानमें जो विभिन्न पदार्थोंका ज्ञान

हो रहा है उस जानकारीमें विषयभूत पदार्थ कारण हैं याने विषयभूत पदार्थ न हों तो ज्ञान तो न होगा। इसलिए उन पदार्थोंको ज्ञानका कारण कह दिया जायगा, उपाधि मान ली जायगी, सो इस सम्बंधमें बात यह है कि विषयभूत पदार्थोंके साथ ज्ञानका अन्वयव्यतिरेक घटित नहीं होता। क्या कभी ऐसी स्थिति हुई कि जगतमें विषयभूत पदार्थ न हों? कोई ऐसी स्थिति न हुई होगी। यह तो यहाँके ज्ञानकी स्वयं एक कमजोरी है कि अपना उपयोग लगायें तो ज्ञान कर लें। वहाँ उपयोग न लगायें तो ज्ञान न हो। यह तो विषयभूत पदार्थ के कारणपनेकी बात नहीं हुई। यहाँ ही सबलता निर्बलता उपयोग लगाना न लगाना इस कृत विशेषता है कि हम कुछको जान रहे हैं और कुछको नहीं। विषयभूत पदार्थ हो तब जानें और न हो तब न जानें। ऐसा अन्वयव्यतिरेक यहाँ घटित नहीं होता, क्योंकि वह ज्ञेय पदार्थ तो सदा है, उनका व्यतिरेक कोई है ही नहीं। कोई यदि कहे कि विषयभूत पदार्थ सामने न हो तो वह ज्ञान नहीं जगता। व्यतिरेक तो बन गया सो भी बात संगत नहीं है। पदार्थका सामने आ जाना इसको विषयभूत नहीं कहते। यह तो हम लोगोंके बद्ध ज्ञानमें अशुद्ध ज्ञानमें ऐसी बात बनी हुई है कि पदार्थ सामने आये तो उसको हम जानते हैं लेकिन विषयभूतपनेकी कला नहीं है यह, क्योंकि केवलज्ञानीके ज्ञानके सामने हो उसीको जाने, वहाँ सामना क्या रहा? वह तो सत् है, कहीं भी है, पीछे है, आगे है, अरहंतके पीछे तरफ है या मुख सामने है, उसकी कोई विशेषता नहीं। पदार्थ हो, सत् हो वह ज्ञानमें आ जाता है। तो विषयभूत पदार्थ ज्ञानकी उत्पत्तिके कारण नहीं हैं किन्तु वे ज्ञानके विषयभूत हैं। तो अब ज्ञानकी विशेषता हुई यह कि नाना प्रकारकी जानकारी चल रही हैं। इतनी विशेषता तो सामान्यविशेषात्मकके कारण है, केवल वहाँ उपाधिकी बात नहीं पड़ी हुई है, लेकिन जो और विशिष्टता आ रही है, अशुद्धता, बन्धन, विरुद्ध मानना, दुःख अनुभव करना यह उपाधिकृत विशेषता है। अतएव अशुद्धता है ही नहीं ज्ञानमें, यह बात कहना असंगत है, और जो अशुद्धता है वह ज्ञानके स्वभावसे है क्योंकि ज्ञान विशेष स्वरूप भी है यह कहना असंगत है।

तत्रान्वयो यथा ज्ञानमज्ञानं परहेतुतः।

अर्थाच्छीतमशीतं स्याद्वन्हियोगाद्धि वारिवत् ॥११७॥

उपाधि और अज्ञानभावमें अन्वयकी सोदाहरण सिद्धि—ज्ञानमें जो विशिष्टता आ रही है रागद्वेषके अनुभव, दुःखके अनुभव, विकल्प विचार तरंगका उठना यह जो ज्ञानमें विशेषता आ रही है, इसमें उपाधि निमित्तभूत है और उस उपाधिके साथ इस ज्ञानके अज्ञानरूप परिणामनमें अन्वयव्यतिरेकका सम्बंध है। अन्वय सम्बंध किसे कहते हैं कि जिसके होनेपर हो उसका नाम अन्वय है। यह अन्वय घटित होता है। परपदार्थका निमित्त होनेपर ज्ञान अज्ञान रूप हो जाता है। यहाँ अज्ञानरूप होनेका ही अर्थ समझिये कि ज्ञानका जो स्वाभाविक जान-

कारी रूप परिणामन है, ज्ञातादृष्टारूप रहनेका परिणामन है, जानकारी मात्र, वह तो है ज्ञान-परिणामन और उससे चिगकर जो विरुद्ध परिणामन हुआ वह अज्ञान परिणामन है। अज्ञान का अर्थ ज्ञानका अभाव नहीं, किन्तु ज्ञानकी प्राकृतिक, स्वाभाविक परिणति न होकर जो सोपाधि परिणामन है वह सब अज्ञान परिणामन है। ऐसा अज्ञान परिणामन कोई मिथ्यात्व वाला नहीं कहा जा रहा। मिथ्यात्वमें भी अज्ञान परिणामन है और जहाँ ज्ञानकी शुद्ध परिणति नहीं हो रही है, सम्यक्त्व होनेपर भी जो ज्ञानकी सोपाधिक परिणति हो रही हो वह भी यहाँ अज्ञान परिणामनसे हुई है। यहाँ अज्ञान शब्द सामान्य है अर्थात् ज्ञानकी जो जानकारी मात्र परिणति है उसके अलावा जो ज्ञानमें वर्त रहा हो वह अज्ञानपरिणामन यहाँ कहा गया है और यह सोपाधिपरिणामन है। यहाँ अज्ञान परिणामनका अर्थ भ्रम नहीं, मोह नहीं, मिथ्यात्व नहीं, किन्तु ज्ञानकी जो विशुद्ध परिणति है उसके खिलाफ कुछ भी बात बने, उसे यहाँ बताया जा रहा है कि वह उपाधिके सम्बन्धसे बना है, उपाधिके होनेपर हुआ है यह यहाँ अन्वय घटित होता है। जैसे कि अग्निके सम्बन्धसे ठंडा जल गर्म हो जाता है। अब कोई यहाँ यह कहे कि यह तो पदार्थका स्वभाव है कि वह सामान्यरूप रहे और विशेषरूप रहे। पानी है वह सामान्यरूप भी रहता है, विशेषरूप भी रहता है, तो विशेषरूपमें ठंडा हो गया, गर्म हो गया, विकार कुछ न कहलायेगा सो तो न माना जायगा। अग्निके सम्बन्ध बिना पानीमें सामान्यविशेषपना पाया जा रहा है, उस विशेषकी बात तो उस स्वभावके साथ है, मगर उसमें जो और विशिष्टता आयी। गर्म हो गया, तेज खौल गया, उसे छू भी नहीं सकते। ऐसी जो विशिष्टता आयी क्या वह उपाधिके सम्बन्ध बिना केवल जलके उस सामान्यविशेषात्मक स्वभावसे आ गयी? यद्यपि ऐसी घनी विशिष्टता भी विशेषात्मकताके कारण है लेकिन उपाधि बिल्कुल नहीं है। तो जैसे अग्निके सम्बन्धसे ठंडा जल गर्म हो जाता है इसी प्रकार पर-कर्म उपाधिके सम्बन्धमें ज्ञान अज्ञान हो जाता है। ज्ञानसे अज्ञानरूप हो जानेमें उपाधि कारण न मानी जाय और ज्ञानका सामान्यविशेषात्मकपना यह स्वभाव ही कारण माना जाय, सो बात घटित नहीं होती।

नासिद्धोसौ हि दृष्टान्तो ज्ञानस्याज्ञानतः सतः ।

अस्त्यवस्थान्तरं तस्य यथाजातप्रमात्त्वतः ॥११८॥

उक्त अन्वयका समर्थन—उक्त श्लोकमें जो दृष्टान्त दिया गया है वह दृष्टान्त असिद्ध नहीं है अर्थात् जिस दृष्टान्तके लिए दृष्टान्त दिया गया है उस दृष्टान्तकी भाँति दृष्टान्तमें भी वही पद्धति घटित होती है। जिस समय ज्ञान अज्ञान रूपमें आता है तो वहाँ हुआ क्या कि उस सत् पदार्थमें उस ज्ञानमें अवस्थान्तर हो गया। एक नई अवस्था विषम अवस्था आ गयी। कैसी अवस्था आ गयी? ज्ञानका शुद्ध काम, ज्ञानकी शुद्ध विशेषता तो यह थी कि

जैसा पदार्थ है उस ही प्रकार उसकी जानकारी बन जाय । यह है ज्ञानकी शुद्ध विशेषता लेकिन इस अवस्थासे हटकर जो विपरीत रूप ज्ञान करने लगा वह अवस्थान्तर हो गया । तो ऐसी जो अवस्थान्तरता है वह अशुद्ध अवस्था है और किसी पर-उपाधिके सम्बन्धसे हुई अवस्था है । ज्ञान सामान्यविशेषात्मक है । अब सामान्य तो एक ही किस्मका है, उसमें तो कोई शंका नहीं, न शंकाकारको शंका है, न कुछ यहां कहा जाने लायक अभी प्रसंग है, सामान्य है, एकस्वरूप है । विशेषके सम्बन्धमें यहां आशंका है । शंकाकारका यह अभिप्राय है कि जो भी अशुद्धता ज्ञानमें मानी जा रही है वह ज्ञानकी विशेषता है और ज्ञानके विशेष स्वभावके कारण है, सो यहां यह बात समझ लेना चाहिए कि विशेषता दो तरहकी है—शुद्ध विशेषता और अशुद्ध विशेषता । ज्ञान जानता ही रहे, उसमें प्रतिक्षण जानन परिणामन चलता रहे यह तो है ज्ञानकी शुद्ध विशेषता और ज्ञान अज्ञान रूप बने, उसमें यथार्थ प्रमाणताकी बात न रहे अथवा उसके साथ इष्ट बुद्धि अनिष्टबुद्धि, रागका अनुभव द्वेषका अनुभव, आकुलता आदिकका सम्बन्ध रहे ऐसा जो ज्ञानका परिणामन है वह है अशुद्ध विशेषता, ऐसी अशुद्ध विशेषता परउपाधिके सम्बन्धसे ही होती है, उपाधिके सम्बन्ध बिना नहीं होती । तो इस तरह इस अशुद्धताके साथ अन्वय पाया जा रहा है और अब व्यतिरेककी भी बात देखो—

व्यतिरेकोस्त्यात्मविज्ञानं यथास्वं परहेतुतः ।

मिथ्यावस्थाविशिष्टं स्याद्यनैवं शुद्धमेव तत् ॥११६॥

जीवविभाव व पौद्गलकर्ममें अशुद्धतासाधक व्यतिरेकका बर्णन—जिस तरह ज्ञान की उस विशिष्टताके साथ कर्म उपाधिका अन्वय घटित हो रहा है उसी प्रकार व्यतिरेक भी घटित होता है । व्यतिरेक उसे कहते हैं जिसके न होने पर जो न हो । तो यहां व्यतिरेक घटित कर लीजिए । उपाधिके अभावमें ज्ञानमें अशुद्धता नहीं आती है । यह व्यतिरेक घट रहा है । जैसे कि अन्वय घटित किया था कि आत्माका ज्ञान पर उपाधिके निमित्तसे मिथ्या अवस्था वाला होता है उसी प्रकार यहां यह व्यतिरेक भी घटित होता है कि उपाधिके बिना यह ज्ञान शुद्ध ही रहता है । तो कर्मउपाधिका निमित्त योग होनेपर ज्ञान अज्ञानरूप होता है और कर्मके अभावमें ज्ञान शुद्ध ज्ञानरूप रहता है । तो यों जब उपाधिका और ज्ञानकी अशुद्ध अवस्थाका अन्वयव्यतिरेक घटित हो रहा तो ज्ञानकी इस अशुद्धताको स्वभावतः न कहना चाहिए । किन्तु पर-उपाधिके सम्बन्धमें यह अशुद्धता आयी है । तो अन्वयव्यतिरेक से यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है कि आत्मामें अशुद्धता परनिमित्तसे आती है । यहां ज्ञान ज्ञान जो कुछ कहा जा रहा है, उसका अर्थ इसमें लगा लेना चाहिए । ज्ञान अशुद्ध है—इसका अर्थ है कि जीव अशुद्ध है और ऐसी अशुद्धता जीवमें अवश्य माननी पड़ेगी और

उसे उपाधिके सम्बन्धसे माननी होगी ।

तद्यथा क्षायिकं ज्ञानं सार्थं सर्वार्थगोचरम् ।

शुद्धं स्वजातिमात्रत्वात् अबद्धं निरुपाधितः ॥१२०॥

शुद्ध अबद्ध ज्ञानका स्वरूप — इस शंकामें शुद्ध ज्ञानका स्वरूप बताया है । जो ज्ञान क्षायिक है, समस्त पदार्थोंका प्रत्यक्ष करने वाला है वह ज्ञान शुद्ध है । क्षायिकका अर्थ है जो उसके साथ कर्म उपाधि थी उसका जहाँ विनाश हो गया है वह केवल रह गया है ऐसा वह केवलज्ञान भाव समस्त पदार्थोंका बोध करने वाला हो जाता है । ज्ञानमें स्वभाव जाननका है । यह ज्ञान किसी सन्निधान वाली वस्तुको जाने या अमुक स्थितिमें रहने वाले पदार्थको जाने ऐसा ज्ञानमें स्वभाव अथवा अड़चन नहीं है, किन्तु जो भी सत् हो, कहीं भी हो वह सब ज्ञानका ज्ञेय बने, ऐसा ज्ञानका स्वरूप है । ज्ञान कभी आत्माके क्षेत्रको छोड़कर बाहर जा जाकर नहीं जानता । यदि ज्ञान आत्मक्षेत्रको छोड़कर बाहर जा जाकर जानता होता तो उसमें ये अड़चनें आ सकती थीं कि वह निकटकी ही बात जाने, सामनेका ही जाने अथवा वर्तमानका ही जाने । ऐसी बाधायें तब आ सकती थीं किन्तु जब ज्ञानका स्वरूप ऐसा है कि वह स्वभावतः ही जानन करता रहता है और जानन क्या कि जो भी सत् पदार्थ हों उनका प्रतिभास भ्रलक इस ज्ञानमें चलता रहता है, ऐसा ही ज्ञानस्वभाव है, फिर भी बद्ध अवस्था में जहाँ कर्मसे आवृत जीव है वहाँ ज्ञानकी यह विशुद्ध कला विकसित न हो वहाँ अड़चनें हैं, सन्निधान की ही जाने, नियमित की ही जाने । किन्तु उन अड़चनोंका हेतु कर्मोपाधिका जब क्षय हो गया तो कोई अड़चन नहीं रह सकती । यों क्षायिक ज्ञान समस्त पदार्थोंका जाननहार है और वह सत्य है, क्योंकि अब उसमें सोपाधिता न रही और स्वरूपमात्र ही है । ज्ञानका स्वरूप जानन अपने स्वरूपमात्र रह गया है । यहाँ ज्ञानस्वभावसे ज्ञानमय आत्माका परिचय करना चाहिए । ज्ञान बद्ध है, ज्ञान अबद्ध है, ज्ञान शुद्ध है, ज्ञान अशुद्ध है, इस कथनमें ज्ञान और जीवमें भेद डाल कर केवल ज्ञानगुणकी कथनी नहीं की गई है किन्तु ज्ञान है सो चारित्र है, ऐसा ज्ञान और जीवमें भेद न डालकर ज्ञानको शुद्ध, अशुद्ध, बद्ध अबद्ध सब प्रकारसे कहा जा रहा है । तो जो ज्ञान क्षायिक है, शुद्ध है वह अब अपने स्वरूपमात्र है और स्वरूपमात्र रह जाना बस यही अबद्ध होना कहलाता है । किसी भी परका बंध नहीं है, परके निमित्त किसी भी प्रकारका जहाँ विरुद्ध प्रभाव नहीं है ऐसा यह स्वरूप मात्र ज्ञान अबद्ध है । इस अबद्धताका कारण यह है कि अब निरुपाधि हो गया है त्यों ज्ञान शुद्ध होता है ।

क्षायोपशमिकं ज्ञानमक्षयात्कर्मणां सताम् ।

आत्मजातेश्च्युतेरेतद्बद्धं चाशुद्धमक्रमात् ॥१२१॥

बद्ध अशुद्ध ज्ञानका स्वरूप—इस श्लोकमें अशुद्ध ज्ञानका स्वरूप कहा जा रहा है। ज्ञानी अर्थात् जीव, ज्ञान और जीवमें भेद करके ज्ञान एक गुण है, जैसे कि अनन्त गुण हैं उनमेंसे एक ज्ञानगुण है, ऐसा भेद डालकर केवल ज्ञानगुणकी कथनीसे बात नहीं चल रही है, किन्तु ज्ञान वह सो जाने। ऐसे उस जीवकी बात कही जा रही है। साथ ही साथ ज्ञानके विशेष स्वरूपपर जब दृष्टि देते हैं तो ज्ञानगुणकी अवस्था भी भेद करके बीचमें आ जाती है। ऐसा ही इन दोनों दृष्टियोंमें रख करके यहाँ ज्ञानकी अशुद्धताका वर्णन किया जा रहा है। ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है और यह क्षायोपशमिक ज्ञान बना, इसका कारण है कि विद्यमान कर्मोंका क्षय नहीं हुआ है। क्षायोपशमिक ज्ञान उस समय होता है जब किन्हीं प्रकृतियोंका उदयाभावी क्षय हो और उपशम हो तथा किसी प्रकृतिका उदय हो ऐसी स्थिति में क्षयोपशमता होती है। तो ज्ञानावरण कर्म इस जीवके साथ है और उन ज्ञानावरण कर्मोंमें दोनों प्रकारके स्पर्धक पड़े हुए हैं। कुछ निषेक, कुछ स्पर्धक सर्वघाती हैं अर्थात् वे जीवके तद्विषयक गुणका घात करने वाले हो रहे हैं लेकिन साथ ही कुछ देशघाती स्पर्धक हैं, जो जीवके गुणका एक देशघात करते हैं तो जिन गुणोंके घातने वाले सर्वघातिस्पर्धक हैं उनका तो विकास होता नहीं और जिनका देशघातत्व है उनका विकास होता है। इस जीवमें क्षायोपशमिक ज्ञान अर्थात् ज्ञानावरण कर्ममें सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभावी क्षय है और उन्हींका ही उपशम है कि वे समयसे पहले उदय न आ जायें। यदि समयसे पहिले सर्वघाती स्पर्धक उदयमें आ जाते हैं तब उदयाभावी क्षय मानकर भी कोई काम नहीं निकलता। जिन सर्वघातिस्पर्धकोंकी स्थिति इस समय उदयमें आनेकी है उनका उदयाभाव होना ठीक है, रहो, लेकिन आगामी कालमें जो उदयमें आ सकेंगे वे यदि पहिले ही आकर धमक गए, तो वर्तमान स्थितियोंके उदयाभावका क्या फल निकला ? इस कारण सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और उन्हीं स्पर्धकोंका सद्भवस्थारूप उपशम अर्थात् वे सत्में ही बन रहें ऐसी उनकी अवस्था रहे, यही उपशम हुआ और देशघात स्पर्धकोंका उदय हो तो, वह क्षयोपशम कहलाता है ऐसी क्षयोपशमकी दशाके लिए कर्मोंका सत्त्व तो सिद्ध होता ही है कि कर्म हैं और उनकी इस इस प्रकारकी अवस्था है। तो क्षायोपशमिक ज्ञान कर्मसहित हुआ और उन कर्मोंका अभी क्षय नहीं हुआ, इस कारण यह ज्ञान बद्ध है, अशुद्ध है अर्थात् अपने स्वरूपसे च्युत है। यही बद्धता और अशुद्धता है। अपना जो निजस्वरूप है, स्वभाव है, स्वभावकी कला है, वह न हो सके वही तो एक पराधीनता है, बद्धता है। लोकमें भी बन्धन कहते किसे हैं ? लौकिक बन्धन यही है कि जो चाहते हैं उस इच्छाके अनुकूल अर्थात् स्वभावसे हम कुछ कर न पायें, ऐसी परिणति हो उसीका नाम तो बन्धन कहलाता है और इस बन्धनमें वह अपने स्वरूपसे च्युत हो रहा है। तो यों यह ज्ञान अपने स्वरूपसे

च्युत है इसी कारण बद्ध है और अशुद्ध है। यह बद्धता और अशुद्धता ज्ञानमें अथवा जीवमें एक साथ है। ऐसा नहीं है कि बद्ध पहिले हो, अशुद्ध बादमें हो या अशुद्ध पहिले हो बंध बादमें हो और अशुद्धता तथा बद्धता प्रारम्भमें एक साथ भी नहीं बनी हुई है, किन्तु यह परम्परा अनादिकालसे चली आयी हुई है।

न स्याच्छुद्धं तथाऽशुद्धं ज्ञानं चेदिति सर्वतः।

न बन्धो न फलं तस्य बन्धहेतोरसंभवात् ॥१२२॥

अशुद्धता न माननेपर बन्ध व बन्धफलकी अस्तिद्धि—अब यहाँ कोई ऐसी जिज्ञासा रख सकता है कि ज्ञानको न शुद्ध मानें, न अशुद्ध मानें तो उसमें क्या बिगाड़ है और एक दृष्टिसे ऐसा लग भी रहा कि जीवमें अनेक गुण हैं। अनन्तगुणात्मक जीवको कहा गया है। उन गुणोंमेंसे एक ज्ञानगुण भी है ऐसा कि जिसका काम केवल जानना है, उसमें यह बात तो हो जाय कि कम जाने, उस पर आवरण आ जाय। अगर कम जाने तो जानना हुआ, अधिक जाने तो जानना हुआ। जाननेमें स्वयंमें शुद्धता और अशुद्धता नहीं है और इस प्रकार यह भी कहा गया है कि ज्ञानमें जो सम्यकपना मिथ्यापना आता है वह ज्ञानकी ओरसे ही नहीं, किन्तु मिथ्यात्वके सम्बन्धसे मिथ्यापन है और मिथ्यात्वका सम्बन्ध न रहे तो सम्यकपन है। तो इससे भी यह सिद्ध हो रहा कि ज्ञान न शुद्ध है, न अशुद्ध, ऐसा आशय रखकर कोई शंकाकार ऐसी बात कह सकता है कि ज्ञान न तो शुद्ध है और न अशुद्ध है। वह तो जैसा है वैसा ही है। इसके समाधानमें समाधान देने से पहिले इस दृष्टिका ख्याल कर लेना चाहिए कि यहाँ ज्ञानका जितना कथन चल रहा है, भेद करके उन अनन्तगुणोंमें से और गुण यों हैं, ज्ञानगुण यह है, ऐसा अन्य गुणोंसे भेद करके ज्ञानकी चर्चा नहीं की जा रही है किन्तु ज्ञान की सामान्य चर्चा चल रही है। ज्ञान और जीव चूँकि इन्हें गुण गुणीके भेदसे भेद करके नहीं देखा जा रहा और केवल एक ज्ञानगुण की ही बात नहीं कही जा रही। सामान्यतया ज्ञान ही तो जीव है, इसलिए ज्ञानकी बात कह रहे हैं। यह ज्ञान यदि न शुद्ध है, न अशुद्ध है इस तरह माना जाय तब आत्मामें कभी बंध हो ही नहीं सकता। और भेददृष्टिसे यह कथन भी किया गया है। जीवके अनन्त गुणोंमें से अन्य गुण यों हैं और ज्ञानगुण जानन-स्वरूप वाला है तो ज्ञानके परिणामनसे बंध नहीं हुआ करता है, किन्तु उसके साथ जो मोह राग परिणामन चल रहा हो उसके कारण बन्ध हुआ करता है। तो इस तरह यहाँ सामान्य कथनमें जहाँ ज्ञान और जीव एक शब्दसे कहे जा रहे हों ऐसे उस ज्ञानको यदि न शुद्ध है, न अशुद्ध है, इस तरह मान लिया जाय तो वहाँ कभी बन्ध हो ही नहीं सकता और जब बन्ध न होगा तो उसका फल भी न हो सकेगा, क्योंकि बंधका कारण ही कुछ न रहा। तो बन्ध क्या रहा और जब बन्ध ही न रहा तो बन्धका फल क्या रहा? जब बन्धका कारण अशु-

द्धता मान लिया तब तो बन्धव्यवस्था और फल व्यवस्था बनती है। अशुद्धता तो मानी नहीं जा रही है, तो बन्ध किस बलपर हुआ और बन्धका फल भी किस आधारपर हुआ ? अतः मानना चाहिए कि ज्ञानमें शुद्धता और अशुद्धता दोनों ही सम्भव हैं।

अथचेद्बन्धस्तदा बन्धो बन्धो नाऽबन्ध एव यः ।

न शेषश्चिद्विशेषाणां निर्विशेषादबन्धभाक् ॥१२३॥

**बन्धकान्तमें दोषप्रसङ्ग**—उक्त कथनका इस श्लोकमें विवरण किया जा रहा है कि यदि ऐसा ही मान लिया जाय कि जीवमें अशुद्धता नहीं होती तो जब जीवमें अशुद्धता नहीं है और फिर बन्ध माना हो, उक्त गायामें तो शुद्धता और अशुद्धता दोनों नहीं हैं, इस प्रकारकी जिज्ञासा की है, प्रश्न रखा है, बन्ध नहीं है यह बात नहीं कही है। तो अशुद्धता जीवमें माने नहीं और बन्ध माना जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि फिर सदा बन्ध होता रहेगा। जैसे पुद्गल परमाणुओंमें जो बन्ध है वह बन्ध उनकी अशुद्धताके बिना ही मान लिया गया है। अर्थात् शुद्ध पुद्गल परमाणु दो हैं और उनमें स्वयं अपने आपके परिणामन के कारण स्निग्ध, रूक्ष गुणकी डिग्रीमें वृद्धि हानि हों रही है जिससे कि परस्परमें दो गुणों की अधिकताकी बात आ जाय तो उनका परस्परमें बन्ध हो जाता है, वे परमाणु बन्धे न थे, वे तो केवल एक-एक थे, फिर भी स्निग्ध रूक्षत्व गुणके कारण परिणामन हुआ है, तो पुद्गलमें सदा बन्ध रह सकता है और कभी वह शुद्ध हो जाय तो भी शुद्ध होकर अशुद्ध हो जायगा। तो जहाँ अशुद्धताके बिना बन्धकी बात है वहाँ तो विडम्बना है, तो इसी तरह जीवमें अशुद्धताके बिना बन्ध माना जाय तो यह बन्ध सदा रह सकता है और बन्ध ही बन्ध रहेगा। पुद्गलमें तो यों ही विकार हो जाते हैं और वे अशुद्ध हो जाते हैं लेकिन अशुद्ध जीवके बंध हो जाय तो बंध फिर न रहे, इसका तो कोई कारण यहाँ न मिलेगा। अतः यहाँ यह सम्भावना नहीं है कि उस बीच किसी समयके लिए यह अबंध बन जाय। बंध तो सदा ही रहेगा, ऐसा प्रसंग आता है, और फिर जो बंध है सो अबंध अवस्थामें नहीं आ सकता, क्योंकि अबंध दशा आनेका कोई कारण नहीं रहता। तो इस तरहसे अब परखा कि जितने भी जीव हैं, त्रिद्विशेष हैं उन सबमें यह बात बिना विशेषताके पायी जा रही है। सभी जीव हैं और चैतन्यस्वरूप हैं, अशुद्धता उनमें है नहीं। तो ऐसी स्थितिमें उनका बंध शाश्वत हो जायगा और बंध कभी अबंध दशामें नहीं आ सकता। तो यह जीव फिर कभी मुक्त न हो सकेगा, अबंध दशाका पात्र ही न हो सकेगा। दूसरी बात यह भी देखिये—कि जीवमें यदि अशुद्धता ही मानी जाय, शुद्धता मानी ही न जाय तो भी यही प्रसंग है कि सदा बंध ही रहेगा, अबंध कभी हो नहीं सकता। तब इस स्थितिमें भी सदा बंधका प्रमाण है, अतः शुद्धता भी मानना आवश्यक है। शुद्धता और अशुद्धता दोनों ही जीवमें सम्भव हैं। पहिले आत्मामें



अशुद्धता रहती है, फिर भेदविज्ञान हुआ, अपने आपके स्वरूपकी परख हुई। अपने ही स्वरूप में स्वको अंगीकार किया और जो ज्ञानस्वरूप है, चैतन्यस्वरूप है उस ही को स्वरूपसे श्रद्धान ज्ञान और इस ही वृत्तिरूपसे आचरण रहा तो ऐसे इस अंतः परम तपश्चरणके प्रतापसे कर्मनिर्जरा होती है और यह जीव शुद्ध हो जाता है।

माभूद्वा सर्वतो बन्धः स्यादबन्धप्रसिद्धितः ।

नाबन्धः सर्वतो श्रेयान् बन्धकार्योपलब्धितः ॥१२४॥

बन्धैकान्त व अबन्धैकान्तकी असंगतता—सर्वरूपसे बन्ध हो रहे यह बात नहीं है। सर्व जीवोंके सदा काल बंध ही रहे ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अबन्धकी भी प्रसिद्धि है। मुक्त जीव भी होते हैं और इस आधारसे भी निरख लेवें कि जो सोपाधिकभाव हीनाहीन दशामें निरखा जा रहा हो तो उसमें यह अनुमान बन जायगा, यह निश्चय बनेगा कि कहीं सर्वथा ही अशुद्धताका अभाव हो जाता है। जैसे यहाँ जीवोंमें किसीमें राग कम, किसीमें और कम, किसीमें बिल्कुल कम देखा जाता है और साथ ही यह भी बात है कि राग औपाधिक भाव है तो जब रागकी यह न्यूनता ही देखी जा रही है तो यह भी निश्चय है कि कोई जीव ऐसे हैं कि जहाँ रागका सर्वथा अभाव है। इस तरहसे मुक्तकी भी प्रसिद्धि है। इसी प्रकार कोई यह माने कि सर्वथा सदाकाल जीव अबन्ध ही है, इसके बंधन नहीं है तो यह मानना भी संगत नहीं है, क्योंकि बंधरूप कार्य तो यहाँ पाया ही जा रहा है, बंधका कार्य भी दिख रहा है। कुछ दार्शनिक जीवोंने केवल एक चैतन्यस्वरूप माना है और उसे अपरिणामी मानते हैं। जीवमें ज्ञानको भी स्वीकार नहीं करते। ज्ञान एक क्रियारूपसे विदित होता है। जानना कुछ बात तो हुई तो ऐसी जाननक्रिया, परिणामन ये जीवमें नहीं माने गए हैं। उनके सिद्धान्तमें तब जीवका स्वरूप क्या रहा? केवल चित्स्वरूप। वह चित्स्वरूप क्या? उसका कुछ विवरण नहीं दिया जा सकता, क्योंकि चित्सामान्य चित्त्विशेष किसी तरहसे वर्णन अगर करें तो वहाँ कुछ व्यक्त रूपत्व दृष्टिमें आयगा और उसे व्यक्त माना नहीं, ऐसे उस चित् जीवको सर्वथा अबन्ध मानते हैं। जीवके कोई बन्धन नहीं है। ऐसा दार्शनिकोंने जीवको अबन्ध मान तो लिया है परन्तु कुछ व्यवस्था यह बन नहीं पाती। यह संसार दिख रहा है, ये नाना कार्य नजर आते हैं, ये किस तरह नजर आते हैं? उत्तर तो दिया है उन्होंने कि यह सब प्रकृतिका कार्य है लेकिन प्रकृति जड़ उसका जो कार्य होगा वह जड़रूपसे ही होगा; चित्स्वरूपमें, चिदाभासरूपसे तो कार्य नहीं हो सकता, ऐसी अनेक बातें हैं। सारांश यह है कि जीवको सर्वथा सदाकाल अबद्ध मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ प्रत्यक्ष ही नजर आ रहा है कि यह सब संसार जीवन, मरण, सुख, दुःख ये बंधके कार्य हैं। तो यहाँ जब ये बंधरूप कार्य पाये जा रहे हैं तो जीवको सदाकाल अबन्ध भी नहीं कहा जा सकता।

अस्तित्वसार्थं सर्वार्थसाक्षात्कार्यविकारभृक् ।

अक्षयि क्षायिकं साक्षादबद्धं बन्धव्यल्पयात् ॥१२५॥

**अबद्धताका उदाहरण**—इस श्लोकमें अबद्ध ज्ञानका लक्षण दिखाया गया है । अबद्ध ज्ञान केवलज्ञान है । वह समस्त अर्थोंका साक्षात् करने वाला है अर्थात् ज्ञानमय आत्मा निरावरण होकर अपनी ज्ञानशक्तिसे ज्ञानपरिणमनमें सारे विश्वका जानन करता रहता है । विश्व विश्वकी जगह है, ज्ञेयपदार्थ कभी ज्ञानमें नहीं आता, किन्तु ज्ञानका काम ही यह है, स्वभाव ही यह है कि जगतमें जो भी सत् हों वे सब जानकारीमें आयें । तो ऐसा वह केवलज्ञान अविकारी है, विकारोंको नहीं भोग सकता है । ज्ञानका काम तो जानन है और राग मोहादिकके क्षय हो जानेसे यहाँ उसका शुद्ध जानन चल रहा है । वह अबद्ध ज्ञान है । जैसे यहाँ संसारी जीवके ज्ञान, राग, उपराग युक्त होनेसे ये परतंत्र अनुभवमें आते हैं । परतंत्रताका अर्थ है कि अपने उपयोगसे किसी बाह्यपदार्थका सहारा मान लेना और उससे अपना जीवन समझना, हित समझना यह ऐसी धारणा है, इसीका नाम परतंत्रता है, तो यह क्षायिक ज्ञान अविकारी है, अविनश्वर है । इसका कभी भी विनाश न होगा और कभी साक्षात् अबद्ध है, क्योंकि वहाँ अब किसी प्रकारका बंध नहीं रहा है । यहाँ इस तरह भी परखना चाहिये कि इस आत्माको जो केवलज्ञानका अभ्युदय हुआ है सो पहिले तो न था । पहिले तो सावरण अवस्थामें यह जीव छद्मस्थ था । केवलज्ञान इसमें व्यक्त न था । तो जिस कालमें केवलज्ञान व्यक्त हुआ है वहाँ क्या स्थिति बनी कि ज्ञानावरणका पूर्णतया क्षय हुआ है और ज्ञानावरणके क्षयका निमित्त पाकर यह केवलज्ञान प्रकट हुआ है । इस नातेसे केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान होता है, लेकिन क्षयके समय जो ज्ञान हुआ वह क्षायिक ज्ञान है । ऐसी व्युत्पत्तिसे तो ज्ञानमें क्षायिकता पहिले समयमें है । जिस समय वह ज्ञान प्रकट हुआ उस समयका वह एक ज्ञानपरिणमन क्षायिक है, किन्तु अब आगेकी सारी पर्यायोंपर दृष्टि की जाय तो जैसे धर्म अधर्म आदिक द्रव्य कालद्रव्यका निमित्त मात्र पाकर और वह भी निमित्त क्या ? साधारण है । अतएव अबंध है, अपने ही स्वभावसे, अपने ही अगुरुलघुत्व गुणके कारण अपने में षट्गुण हानिवृद्धिरूप परिणमन करते हैं । उसही प्रकार यह आत्मा, जो शुद्ध अवस्थामें है वह भी अपने अगुरुलघुत्व गुणके निमित्तसे अपनेमें षट्गुण हानिवृद्धिरूप परिणमन कर रहा है । उस समय उसमें क्या स्थिति है ? वह स्थिति बतलायी जा रही है । जो कि सिद्ध भी जीव हैं, हम भी जीव हैं । तो एक सदृशता होनेके कारण हम जीवद्रव्य की विशेषता वाली सिद्ध दशा भी ज्ञानमें ला सकते हैं, पर धर्मादिक द्रव्य ये परद्रव्य हैं । इनकी अनुभूतिसे तो सम्बन्ध बनता नहीं है, अतएव इनकी बात सूक्ष्म है, वचनोंके अगोचर है ।

**सिद्ध भगवंतोंमें शुद्ध ज्ञानकी विधि**—अब उस सिद्ध दशामें जो केवलज्ञान दर्त रहा

है वह बर्त रहा है, उसका अबद्ध व क्षायिक ज्ञान कहा एक यह ख्याल करानेके लिए कि कभी यह जीव अशुद्ध था, बद्ध था और आवरणके क्षयसे इसमें यह ज्ञान केवलज्ञान प्रकट हुआ है। लेकिन समय व्यतीत होने के बाद अब जो सिद्ध भगवन्तोंकी परिणति चल रही है वह क्या कर्मके क्षयसे चल रही है ? कर्म तो बहुत पहिले ही न थे। इस समय किस निमित्तक वह स्थिति है ? तो यहाँ ठीक ऐसी ही बात विदित होती है जैसे कि धर्मादिक द्रव्योंमें परिणति होती है उसी प्रकार अब सिद्ध जीवमें भी परिणति हो रही है। तो क्षायिक ज्ञान द्रव्यमें था और उस ही क्षयके कारण हुई निर्मल परिणतिकी परम्परा चल रही है, इसलिए सब समय उसको क्षायिक ज्ञान बताया गया है। वह क्षायिक ज्ञान, केवलज्ञान निर्विकार है। उस ज्ञानमें ये सब पदार्थ किस तरह विदित होते हैं, इसकी भी दिशा सही-सही अल्पज्ञान समझ सकेंगे। कारण यह है कि अल्पज्ञोंका ज्ञान कुछ अलग-अलग विषय रूपसे हो रहा। जैसे एक पुद्गलद्रव्य कभी रसरूपसे जाना जा रहा, कभी रूप, गंध, स्पर्श आदि रूपसे जाना जा रहा, क्योंकि इन्द्रियका यहाँ इस तरह प्रयोग है और यह विषय स्पष्टतया यहाँ जुदे-जुदे रूपसे अनुभवमें आता है। अब पुद्गलद्रव्य स्वयं मूर्त है, अपने उन सर्वगुणोंमय है फिर भी अखण्ड है। ऐसे ही पुद्गल एक ही साथ जो ज्ञानमें आया है उसकी क्या दिशा है, उसकी क्या पद्धति है, यह बात सूक्ष्म है, अनुभवगम्य है। जब केवलज्ञान हो तब ही उस बातकी स्पष्टता होती है, उसको बतानेसे समझमें आयागी भी कुछ, लेकिन उस ज्ञानमें क्या बात किस तरह झलकती है, यह युक्तिके द्वारा, अनुमानके द्वारा हम उसका कुछ कुछ अभ्यास कर लेते हैं। वह क्षायिक ज्ञान अबद्ध है। उस ज्ञानके साथ इष्ट अनिष्ट बुद्धि नहीं है, उस ज्ञान के साथ किसी प्रकारकी आकुलता नहीं है, क्षोभ नहीं है। ऐसा वह ज्ञान अबद्ध है, क्योंकि वहाँ किसी भी प्रकारका बन्ध नहीं रहा है।

वद्धः सर्वोपि संसारकार्यत्वे वैपरीत्यतः ।

सिद्धं सोपाधि तद्धेतोरन्यथानुपपत्तितः ॥१२६॥

सोदाहरण बद्ध ज्ञानका स्वरूप—इस श्लोकमें बद्ध ज्ञानका स्वरूप दिखाया गया है। यह संसारी जीवोंका ज्ञान सारा बद्ध है, क्योंकि संसाररूप कार्य यहाँ देखे जा रहे हैं, उनमें विपरीतता पायी जा रही है और इसी कारण ज्ञानको सोपाधि कहा गया है, अन्यथा अर्थात् ज्ञानके साथ उपाधि न होती, ज्ञानमें बद्धता न होती तो ये सब विचित्रता, विपरीतता बन न सकती थी। जब आत्माके ज्ञानस्वभावका विचार करते हैं, आत्मा ज्ञानात्र है, इसका जाननस्वभाव है तो उस स्वभावमें, उस अमूर्त ज्ञानभावमें उस एक जाननकी ही बात होनी उचित प्रतीत होती है। ऐसा ही होना चाहिए और यही ही जीवका वास्तविक ढंग है, जानन होता रहा, पर इसके साथ जो यहाँ विकल्प है, तरंग है, विचार है, विस-

मता है, ये कहाँसे आ गए ? जीवके स्वभावकी यह बात नहीं है, ऐसा स्वभाव बताते हैं । यदि स्वभाव बन जाय तो कभी भी इन विकल्पोंका, विचारोंका, विकारोंका कभी अभाव ही न हो सकेगा । यह स्वभावमें नहीं है । आत्मा ज्ञानस्वभावी है । स्वभावमें मात्र जानना है, पर यह बात विडम्बनाकी और इस विकल्प विचारकी आ कहाँसे गयी है ? स्वभावदृष्टिमें इसका उत्तर नहीं बन पाता है । स्वभावमें स्वभाव ही है, विपरीत बात कहाँसे आ गई है ? तो विपरीतता तो है ही । इस तरहकी विडम्बनामें तो पड़े हुए ही हैं । इसको मना कैसे किया जायगा ? तो जब स्वभावका और आजकी परिस्थितिका स्वरूप निरखते हैं तो विदित होता है कि जीवमें इस तरहकी अशुद्धता अनादि परम्परासे चली आयी है कि जो ऐसी स्वच्छत्व शक्ति रखने वाला आत्मद्रव्य इस अशुद्ध परिणति परम्परासे यह उपाधि सहित है और उस उपाधिका निमित्त पाकर यहाँ यह सब कुछ बर्त रहा है । बर्त रहा है, फिर भी स्वभावका विचार करनेसे ऐसा मालूम होता है कि यह सब अधर बर्त रहा है, यह सब इसमें चल रहा है और कैसे चल रहा है कि मानो यह सब अधर चल रहा है, स्वभावमें इसका प्रवेश नहीं है, फिर भी यह बात चल रही है । तो इसमें ऐसी योग्यता है, अन्य द्रव्यमें ऐसी योग्यता नहीं है । यदि यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है कि जीवमें पर्यायगत ऐसा स्वभाव आ गया है । जीवद्रव्यमें ऐसा स्वभाव नहीं है स्वभावतः, लेकिन जीव जब अशुद्ध पर्यायमें है तो उस पर्यायका स्वभाव ही इस तरह है कि ऐसा ही योग हुआ कि उपाधिका निमित्त पाकर यह विकाररूप परिणाम । इस बातकी तुलना कुछ कुछ इस तरह की जा सकती है कि जैसे शुद्ध परमाणु द्रव्यमें, केवल परमाणु द्रव्यमें जल भरनेकी अथवा कोई वजन सहने या बोझ उठानेकी, इन सब अशरण बातोंकी वहाँ सामर्थ्य नहीं विदित होती । हाँ एक सूक्ष्मदृष्टिसे कह सकते हैं कि चूँकि वह स्कंधरूप परिणत होगा और उस स्कंधकी हालतमें ये सब बातें उसमें आ जायेंगी, इसकी योग्यता बन जायगी, तो स्पष्ट रूपसे तो यह विदित होता है कि घड़ा रूप होने पर उसमें जल भरे जानेकी योग्यता है अथवा चौकी आदिक मजबूत स्कंधोंके रूपमें होने पर इनमें बोझ सह लेनेकी योग्यता है, तो ऐसे विकार जो इस जीवपर आये हैं चूँकि यह अनादिसे अशुद्ध है तो ऐसे अशुद्ध पर्यायगत जीवमें ऐसी योग्यता है कि वह बढ़ रहे, विकृत रहे, इस तरह परिणत रहे, फिर भी जो कि यह सब पात्रता इस जीवमें ही क्यों आयी है ? अन्य पदार्थमें क्यों नहीं आयी है ? धर्मादिकमें यह विशेषता क्यों नहीं है ? तो मानना होगा कि जीवद्रव्यमें एक वैभाविकी शक्ति है, जिसके विपाकमें, जिसके अशुद्ध विपाकमें अशुद्ध पर्यायमें ऐसी योग्यता है कि जो यह बढ़ है, विकृत है, परतंत्र है, इस तरह यह जीव अथवा यह ज्ञान मात्र ही तो है । ज्ञानको ले लीजिए—संसारी जीवोंका यह ज्ञान बढ़ है, क्योंकि उनके कार्यमें विपरीतता पायी जा रही है । यहीं देख लीजिए—इतने मनुष्य

हैं, सभीके विचार विकल्प भिन्न-भिन्न हैं। तो इतनी विभिन्नता कैसे आयी? पदार्थमें विभिन्नता अन्य पदार्थके सम्बन्ध बिना नहीं हो पाती। यदि अन्य पदार्थके योग बिना बात बनती है तो वह एक समान बनती है। जैसे धर्मादिक द्रव्योंमें प्रति समयका जो परिणामन है वह एक समान है। सिद्ध जीवोंका प्रतिसमयका जो परिणामन है वह एक समान है। और इतना ही नहीं समस्त सिद्धोंका भावपरिणामन एक समान है। तो जहाँ विसमता नजर आती हो वहाँ यह निर्णय कर लेना चाहिए कि किसी अन्य पदार्थका वहाँ सम्बन्ध है जिस निमित्त योगमें। यहाँ इस तरहकी विसम परिणति होती है। तो यों संसारी जीवोंका ज्ञान बढ़ है, क्योंकि उनके कार्यमें विपरीतता पायी जा रही है। यदि बढ़ता न होती तो यह विपरीतता बन न सकती थी अन्यथा विपरीतताकी अनुत्पत्ति है। इस अन्यथानुपपत्ति हेतुसे संसारी जीवोंके ज्ञानकी बढ़ता सिद्ध होती है।

सिद्धमेतावता ज्ञानं सोपाधि निरुपाधि च ।

तत्राशुद्धं हि सौपाधि शुद्धं तन्निरुपाधि यत् ॥१२७॥

सोपाधि अशुद्ध ज्ञानकी व निरुपाधि शुद्ध ज्ञानकी सिद्धिका निर्णय—उक्त प्रसंगमें जो अनेक श्लोकोंमें यह वार्ता चल रही है उसका फलित अर्थ यह है कि ज्ञान दो प्रकारका होता है—एक सोपाधि और एक निरुपाधि। ज्ञानस्वरूपतः तो एक ही समान है, पर उसमें जो बाह्य विशेषता है वह विशेषताकी दृष्टिसे ज्ञानको दो प्रकारोंमें समझ लिया गया है—एक उपाधिसहित ज्ञान और एक उपाधिरहित ज्ञान। जो कर्म उपाधि सहित ज्ञान है उसे तो अशुद्ध कहते हैं और जो कर्मउपाधिसे रहित ज्ञान है उसको शुद्ध कहते हैं। द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय तो कर्मउपाधि कर्मउपाधिमें ही है। उसके रूप रस आदिकका परिणामन, उसकी प्रकृति स्थिति आदिकका परिणामन जो उसमें है वह उसमें है और जीवका परिणामन जीवके भावानुकूल वह सब कुछ जीवमें पाया जा रहा है, जीवका कोई अंश कर्ममें नहीं, कर्मका कोई अंश जीवमें नहीं, पर जब जीव और कर्मका सम्बन्ध है, निमित्तनैमित्तिक भाव है, निमित्तनैमित्तिक भावरूप बन्धन है उस समयमें दोनों ही अपने गुणोंसे च्युत हो जाते हैं। यह कार्माणवर्गणा बंधनसे पहिले तो कर्मत्वरहित था, शुद्ध था, किसी अनुभाग, स्थिति, प्रदेश, प्रकृतिमें नहीं था। और भी पहिले की बात देखिये—कभी ये स्कंध अवस्थामें न होते तो एक अणुरूप भी न हो सकते थे। उस दशामें इसमें क्या विकार था? वह भी ठीक था और जीवको भी देखा द्रव्यदृष्टिसे तो जीव जो सत् है। जीव जिस प्रकार सहज अपने सद्रूपसे है उसमें क्या है? जीवका वह सहज सत्त्व है, शक्तियाँ हैं। जीवका निजस्वरूप विकारके लिए नहीं हुआ करता है। हो विकार, यह निर्णय अलग है मगर जीवका ही स्वभाव, जीवका ही सहज सत्त्व जीवके विकारके लिए नहीं होता। तो जीवके निज स्वरूपको निरखा जाय तो

वहाँ भी कोई बात विकार या अशुद्धताकी नहीं है। इस तरह केवल द्रव्यको निरखनेमें वहाँ किसी भी प्रकारकी उपाधि नहीं है, पर गुजर क्या रहा है? बात क्या बन रही है? परिणामन क्या चल रहा है? जब इस ओर दृष्टिपात करते हैं तो आजकी स्थिति यह भली भाँति विदित हो रही है कि सोपाधिक जीव और कर्म—इन दोनोंका निमित्तनैमित्तिक भावरूप बन्धन है और उस बन्धनमें यह जीव अशुद्ध कहा जाता है। तो यों जीव शुद्ध अशुद्ध दो स्थितियोंमें है। इसीको कह लीजिए कि ज्ञान शुद्ध और अशुद्ध इन दो स्थितियोंमें है। जीव ज्ञानस्वरूप है। उसका मुख्य लक्षण ज्ञान है। ज्ञान लक्षणके द्वारा ही जीव लक्षित होता है। अतः जीव ज्ञानमय है। तो जब जो कुछ भी परिणतियाँ होती हैं इस ज्ञानके माध्यमसे घटित कर लेना चाहिए। यहाँ यह ज्ञान ही तो अशुद्ध बन रहा है। किसे जानती है इष्ट अनिष्ट बुद्धि और सुख दुःख विकल्पोके समय ज्ञान ही तो किसी रूप चल रहा है जिसका कि प्रभाव भौगनेमें आ रहा है। तो यों ज्ञान शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकारसे है। अर्थात् सोपाधि और निरूपाधि दोनों स्थितियोंसे युक्त है।

ननु कस्को विशेषोस्ति बद्धाबद्धत्वयोर्द्वयोः।

अस्त्यनर्थान्तरं यस्मादर्थदैक्योपलब्धितः ॥१२८॥

बद्धता व अबद्धतामें अन्तरकी जिज्ञासा—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि बद्धता और अबद्धतामें क्या विशेषता है? शंकाकार यहाँ उस द्रव्यदृष्टिमें एक-एक द्रव्यस्वरूप देख रहा है और उसको देख करके वह जान रहा कि बद्ध कहो तब भी वह केवल एक है, अबद्ध कहो तब भी वह केवल एक है, तो यहाँ बद्धता और अबद्धतामें अन्तर क्या आया? इस प्रश्न को इस तरहसे भी समझ सकेंगे कि जैसे मान लो गाय गिरवाँसे बँधी हुई है तो गिरवाँका एक छोर दूसरे छोरसे बाँध दिया गया है, इसीको तो कहते हैं कि गाय बद्ध दशामें है, और न लगी हो गाँठ तो कहते हैं कि गाय अबद्ध दशामें है। अब गाय गायको ही गायमें देखा जाय तो उस बद्ध दशामें भी गायमें क्या अन्तर आया? जब गिरवाँमें गाँठ लगी है तब भी तो रस्सी रस्सीसे ही तो बँधी है, कहीं गायका गला तो नहीं बँधा? और जब गाय अबद्ध दशा में है तब भी गायका गला ज्योंका त्यों है। तो बद्ध और अबद्ध दोनों ही दशाओंमें गायका गला ज्योंका त्यों है, वह वही एक है, उसमें कुछ फर्क नहीं है। ऐसा ही कुछ आशय रखकर मानो यहाँ शंकाकार कह रहा है कि बद्धता और अबद्धतामें क्या अन्तर है? हम तो यहाँ यह देख पा रहे हैं कि बद्धता और अबद्धता इन दोनों ही दशाओंमें कुछ अन्तर विदित नहीं हो रहा है। इस प्रकार एक शुद्धनयके आशयमें रहता हुआ शंकाकार यहाँ बद्धता और अबद्धताके अन्तरकी जिज्ञासा कर रहा है।

नैवं यतो विशेषोस्ति हेतुमद्धेतुभावतः ।

कार्यकारणभेदाद्वा द्वयोस्तल्लक्षणं यथा ॥१२६॥

हेतुहेतुमद्भाव अथवा कार्यकारणभाव होनेसे बद्धता व अबद्धतामें अन्तरका प्रदर्शन—  
 उक्त श्लोकमें शंकाकारने यह पूछा था कि बद्धता और अबद्धतामें भेद क्या है, क्योंकि दोनों ही अवस्थाओंमें हम जीवमें कुछ फर्क नहीं देख रहे हैं । बद्ध अवस्थामें जीव हो तब भी वही जीव अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव वाला है । वहाँ भी वही जीव उतना ही है जितना कि उसका सत्त्व है और अबद्ध हो तो वहाँ भी जीव वही है, उतना ही है जितना कि उसका सत्त्व है । कुछ बात कर्मकी जीवमें बढ़ तो नहीं गई और न बद्धतामें कोई जीवकी बात घट गई । जीव तो उतना ही है । तो बद्धता और अबद्धतामें फर्क क्या है ? इस शंकाका उत्तर इस श्लोकमें दिया जा रहा है । बद्धता और अबद्धतामें कोई विशेषता नहीं है । यह मानना असंगत है, क्योंकि इन दोनोंमें कार्यकारण भाव पाया जाता है, हेतुहेतुक भाव पाया जा रहा है । अर्थात् अबद्धता कहलाती है मुक्त दशा और वह मुक्त दशा बद्धतापूर्वक हुई है याने बन्धन था तब मुक्ति हुई है । अन्यथा बन्धन बिना यदि मुक्ति कह दी जाय तो यह तो एक असिद्ध बात होगी । अथवा जैसे कह दिया जाय कि आपके पिताजी जेलसे कब छूट गए ? जेल गया ही न हो कभी और ऐसा कह दिया जाय तब तो उसके लिए वह गाली हो गयी । वह तो बुरा मानेगा । क्योंकि छूटना शब्द यहाँ यही सिद्ध करता है कि अभी तक बन्धनमें था । तो अबद्धता जो आयी है वह बन्धनपूर्वक आयी हुई । पहिले बन्ध दशा थी और अब अबद्ध दशा हुई तो इस अबन्धमें वह बन्धता कारण है । बद्धतापूर्वक अबद्धता हुई । दूसरी बात अगर बद्धता और अबद्धतामें अन्तर ही समझना है तो यों समझो, जैसे गाय गिरवाँसे बंधती है । शंकाकारकी दृष्टिमें यहाँ यह बात समायी हुई है कि गाय गिरवाँसे बंधी है जिस समय और गिरवाँसे छूट गयी उस समय भेद क्या पड़ गया है ? जब गाय बन्धनमें थी तब भी उतनी ही थी और जब बन्धनसे मुक्त हो गयी तब भी उतनी ही है, उसमें कुछ घटा-बढ़ी तो नहीं हो गई । तो एक ऐसी बात रखी जा सकती है लेकिन अन्तर तो स्पष्ट विदित हो रहा । जब गाय गिरवाँसे बंधी है, परतंत्र दशामें है उस समय वह इतना परतंत्र है कि कहीं आ जा नहीं सकती । कहीं भाग कर जा नहीं सकती । अपनेमें स्वतंत्रता का अनुभव नहीं कर सकती । तो ऐसा अन्तर सामने दिख रहा है । और फिर शंकाकारका यहाँ आशय यह है केवल कि बद्धतामें भी उतना ही द्रव्य है, अबद्धतामें भी उतना ही द्रव्य है, तब अन्तर क्या आया ? तो उस शुद्ध दृष्टिसे अन्तरकी बात न कही जायगी, क्योंकि उस दृष्टिमें न बद्धता है, न अबद्धता और बद्धता अबद्धताकी बात कह रहे हो तो जिस मैदानकी बात है उसी मैदानमें चलकर इसका उत्तर लो । तो वहाँ यह समाधान मिल जायगा कि

बद्धता और अबद्धतामें कार्यकारणभाव है, इस कारण अन्तर है ।

बन्धः परगुणाकारा क्रिया स्यात्पारिणामिकी ।

तस्या सत्यामशुद्धत्वं तद्द्वयोः स्वगुणाच्युति ॥१३०॥

बन्धका स्वरूप—इस श्लोकमें बन्धका लक्षण बताया जा रहा है । परके गुणोंके आकार परिणामन करने वाली क्रियाका नाम बंध है । जैसे यहाँ पुद्गलके गुणोंके आकार मायने उसके अनुरूप जो परिणामन होनेका काम है उस ही का नाम बंध है । जिस समय यह जीव और पुद्गलमें परगुणाकार परिणामन होता है । बंध तो दोनोंमें है, जीवमें भी और पुद्गल में भी । बन्धकी दशामें कोई सांचे कि एक आराममें हो और एक बन्धनमें हो, सो नहीं है । बन्धनके समय दोनों ही बन्धनमें हैं । अगर कोई दो तीन सिपाही दो चार कैदियोंको पकड़े लिए जा रहे हैं तो वहाँ वे कैदी भी बन्धनमें हैं और सिपाही भी । सिपाही बन्धनमें इसलिए हैं कि वे उनको छोड़कर कहीं आ जा नहीं सकते । तो यही उनके लिए एक बन्धन है, और भी देखिये—हुक्म देने वाला और हुक्म मानने वाला इन दोनोंका कितना परस्परमें सम्बंध है ? वहाँ कोई यह समझे कि हुक्म मानने वाला तो आकुलतामें है, जब कि हुक्म देने वाला आकुलतामें नहीं है, तो इनका परस्परमें सम्बंध कैसे ? सो यह बात नहीं है । आकुलतामें तो दोनों हैं । तो इसी तरह समझ लीजिए कि जब जीव और कर्मका सम्बंध बना तो दोनोंमें कुछ न कुछ विकारका कारण बना । जीव और कर्मका जब बंध बना तो जीव भी परगुणाकार परिणामन करता है । और पुद्गल भी परगुणाकार परिणामन करता है । परगुणाकार परिणामनका अर्थ क्या है ? अपने-अपने गुणसे च्युत हो जाना, यही परगुणाकार परिणामन है । अर्थात् अपना जो स्वरूप है, स्वभाव है उस स्वभाव रूप बात न बने, उससे विपरीत बने तो वह स्वगुणाकार तो न रहा, स्वगुणाकार परिणामन न रहा, यही बंध है । स्वगुणाकार परिणामन न रहा इसीका नाम है परगुणाकार परिणामन हो गया । तो उस गुणाकार परिणामी क्रियाके होनेपर अशुद्धता होती है । वह अशुद्धता यही है कि दोनों अपने स्वरूपसे च्युत हो गए हैं, अपने स्वरूपको छोड़कर विकार अवस्थाको धारण कर लेते हैं । तो यहाँ दोनोंके बंधका कारण बताया गया है, कि अपने-अपने गुणसे अतिरिक्त अपनी जो स्वाभाविकी बात है उससे च्युत हो गया है, बस इसीका नाम बंधन है । अब ऐसी जो अशुद्धता है इस अशुद्धताको क्या यह कहा जायगा कि जो अशुद्ध होता है उसका ही प्रताप है और वह अपने ही कारण ऐसा हो गया है, ऐसा भी न कहा जा सकेगा, और ऐसा भी न कहा जा सकेगा कि उस अशुद्धताका जो निमित्त है तो वह निमित्तका ही सब कुछ है । वह अशुद्धता दोनोंका कार्य माना जायगा, मगर अंशदृष्टिसे । एक उपादानसे अशुद्ध हुआ है और एक निमित्तसे अशुद्ध हुआ है । दोनों दृष्टियाँ हैं । कर्म उपाधि निमित्त न हो तो



आत्माकी अशुद्धि कहाँसे हो ? कर्मोंकी अशुद्धिका अर्थ क्या हुआ ? अब जीवमें जो मोहादिक भाव आये हैं तो वहाँ यह न समझना कि वह मोहभाव केवल कर्मकी अवस्था है, कर्मकी ही चीज है, जीवकी चीज नहीं है, और यह भी न समझना कि मोहभाव जो है वह केवल जीव का ही भाव हो गया है, इसमें कोई दूसरेका सम्बंध नहीं है। तो ऐसी स्थितिमें जब निमित्त दृष्टिसे देखते हैं तो मोह जीवका है और जब उपादान दृष्टिसे देखते हैं तो मोह कर्मका है। तो यों वहाँ दृष्टान्त होगा, और जब शुद्धताकी सम्हाल होती है, जीव अपने स्वरूपको सम्हालता है तो उस सम्हालमें उसे जहाँ उपयोग होगा उसको वह स्वरूप दिखेगा। सम्हालमें तो जीवके शुद्ध स्वभावपर उपयोग है तो एक शुद्ध स्वभाव ही दृष्टिमें आयगा। पर दर्शन मोहके विलीन हो जानेपर राग और द्वेष ६वें और १०वें गुणस्थान तक चलते हैं। तो वहाँ जीवमें इतनी बात चलती रहती है, पर कहीं तो वह अज्ञात अवस्थामें है, जिसे अनुपचरित बोला गया, कहीं ज्ञात अवस्थामें है जिसे उपचरित बोला गया और कहीं अभिप्रायमें है अर्थात् उसके करने का, बाँधनेका, उससे मौज माननेका, ऐसी मेरी सदा दशा रहे, इस प्रकारका आशय नहीं है। कहीं इस तरहकी भी दशा होती है। तो ऐसे रागादिक भाव तीन श्रेणियोंमें आ गए। एक तो मोहसहित दशा। जहाँ आशय भी उनका बिगड़ रहा है, एक मोहरहित, किन्तु बुद्धिगत और एक मोहरहित और अज्ञातरूप दशा। तो इस तरह किसी भी रूपमें हो, जितनी अशुद्धता है वह अशुद्धता ही कहलाती है। तो यहाँ यह बता रहे हैं कि अशुद्धतामें होना यही है कि पदार्थ अपने गुणसे च्युत हो जाता है और इस ही को यों कह लीजिये कि वह परगुणाकार परिणामनकी क्रिया हुई है।

बन्धहेतुरशुद्धत्वं हेतुमच्चेति निर्णयः।

यस्माद्बन्धं विना न स्यादशुद्धत्वं कदाचन ॥१३१॥

अशुद्धताकी बन्धकार्यता व बन्धकारणता—उक्त उत्तरमें यह बताया गया था कि बद्धता और अशुद्धतामें कार्यकारण भाव है। अब उसीके सम्बन्धको लेकर इस श्लोकमें यह कहा जा रहा है कि बंध और अशुद्धता इन दोनोंमें भी परस्पर कार्यकारण भाव है, याने बंध का कारण अशुद्धता है। जो अशुद्ध हो सो बंध है। तो बंधका कारण अशुद्धता हुई। जीव-कर्मका बंध हो रहा है, इसका कारण क्या है कि जीव अशुद्ध है। जीवकी अशुद्धतामें नवीन कर्म बन्धमें कारण हो गया है। तो बन्धका कारण अशुद्धता है और बन्धका कार्य भी है अशुद्धता। अशुद्धता क्यों आयी ? अशुद्धता एक कार्य है, वह कैसे हुआ ? तो उसका उत्तर यह है कि बन्ध था, कर्मवा उदय हुआ। उस कर्मविपाकके समय यह अशुद्धता आयी। तो यों अशुद्धता बन्धका कार्य भी है। बंधके बिना अशुद्धता नहीं होती, इस कारण बन्धकी कारणता स्पष्ट ही है। तो जिस प्रकार अशुद्धताका कारण बंध कहा गया है उसी प्रकार यह

भी निरखना चाहिए कि बन्धका कारण अशुद्धता है अर्थात् अशुद्धता कारण है और बन्ध कार्य है । तो अब इसी बातको आगेके श्लोकमें स्पष्ट कर रहे हैं ।

कार्यरूपः स बन्धोस्ति कर्मणां पाकसंभवात् ।

हेतुरूपमशुद्धत्वं तन्नवाकर्षणत्वतः ॥१३२॥

बन्धकी कार्यरूपता व अशुद्धताकी कारणरूपता—बन्ध कार्य है क्योंकि बन्ध कर्मोंका विपाक होनेसे होता है और अशुद्धता उसका कारण है, बन्ध कार्य है । इस सम्बन्धमें यहाँ दो बातोंपर प्रकाश डाला गया है कि कर्मोंका विपाक होनेसे बन्ध होता है इसलिए बन्ध कार्य है । इस उत्तरमें तो यह बात आयी कि बन्धका कारण कर्म विपाक है । यह तो एक सजातीयतासे उत्तर दिया गया । दूसरी बात यहाँ यह कह रहे हैं कि बन्ध कार्य है, क्योंकि उसके कारण अशुद्धता है । अशुद्धताके ही कारण नवीन-नवीन कर्मोंका आकर्षण होता है और उसका बन्धन होता है । यहाँ जो पहिली बात कही गई है कि कर्मोंका विपाक होनेसे बन्ध कार्यरूप है । इसमें एक नवीन बात यह ध्वनित होती है जिसका संकेत आस्रवाधिकारमें पहिली ही गाथामें समयसारमें किया गया है कि कर्मोंका जो आस्रव होता है उसका साक्षात् कारण उदयमें आया हुआ कर्म है । यद्यपि यह बात प्रसिद्ध है कि कर्मोंके आस्रवका कारण जीवका मिथ्यात्व आदिक भाव है, यह बात प्रसिद्ध है और गलत भी नहीं है, पर उसमें थोड़ा साक्षात् असाक्षात्का फर्क है । नवीन कर्मका जो आस्रव होता है उसका साक्षात् निमित्त है उदयमें आये हुए कर्म । आस्रव हो रहा है जड़कर्मका और उसका निमित्त हुआ है साक्षात् उदयमें आये हुए कर्म । तो जड़कर्मोंके आनेका साक्षात् निमित्त ये उदयागत जड़ कर्म हैं । अब रागद्वेष मोहभाव आस्रवके कारण हैं, सिद्धान्तमें यह बात जो बड़े स्पष्ट और विस्तृत रूपसे कही गई है उसका क्या समन्वय है ? तो वह भी बात देखिये—जीवमें जो नवीन कर्मका आस्रव हुआ, उसमें निमित्त तो हैं उदयमें आये हुए कर्म, लेकिन उदयमें आये हुए कर्मोंमें यह निमित्तता आ जाय, ऐसी निमित्तत्व शक्ति आ जाय कि वे नवीन जड़कर्मोंके आस्रवके निमित्त बने ऐसे उदयागत कर्मोंमें निमित्तता रागद्वेषमोहके निमित्तसे आती है, इस कारणसे नवीन कर्मोंके निमित्तका निमित्त है रागद्वेषमोहभाव । और इसमें कोई समयभेद नहीं है परम्परासे निमित्तपना आया तो है । जीवके रागादिक भावोंमें कर्मके आस्रवके लिए, किन्तु समयभेद नहीं है । इस कारणसे और साथ ही उसमें बल और प्रबलता रागद्वेष मोहकी ही सिद्ध होती है, इस कारण यह प्रसिद्ध किया गया है और सीधा ही यों लिख दिया गया है कि जीवके जो नवीन कर्म आते हैं उनका कारण रागद्वेष मोह भाव है । बुद्धिको ज्यादह परिश्रम न दिलाना पड़े श्रोताओंके लिए और बात भी प्रबलताके साथ यह है, इस कारण यह बात कही गई है कि जीवके नवीन कर्मके आस्रवका कारण रागद्वेषादिक भाव है । इसका

संकेत इस श्लोकमें पहिली पंक्तिमें मिल रहा है कि बन्ध कार्यरूप है । क्यों, कर्मका विपाक होनेसे । दूसरी पंक्तिमें कहा है कि कर्मबन्ध कार्यरूप है और इस हेतु है अशुद्धता, क्योंकि उस अशुद्धताके कारणसे नवीन कर्मोंका आकर्षण और बन्धन होता है । इस तरह जैसे अशुद्धताका कारण बन्ध कहा गया है उसी प्रकार बन्धका कारण अशुद्धता भी कहा गया है ।

जीवः शुद्धनया देशादस्ति शुद्धोपि तत्त्वतः ।

नासिद्धश्चाप्यशुद्धोपि बद्धाबद्धनयादिह ॥१३३॥

जीवकी शुद्धता व अशुद्धताका निर्देश—इस श्लोकमें जीवकी शुद्धता और अशुद्धताका दिग्दर्शन कराया है । शुद्धनय अर्थात् निश्चयनयकी विवक्षामें जीव वास्तवमें शुद्ध है, और व्यवहारनयकी दृष्टिसे अर्थात् बद्धनय और अबद्धनयकी दृष्टिसे जीव अशुद्ध है, यह बात भी असिद्ध नहीं है । यहाँ शुद्धताका अर्थ रागद्वेषरहित निर्विकार परिणामन नहीं लेना है । शुद्धता का अर्थ केवल, केवल द्रव्यका नाम है शुद्धता, और द्रव्यके साथ कुछ भी बात लगा दो वह है अशुद्धता, और इस शुद्धता अशुद्धताके प्रसंगमें जीवका बन्धन जैसे अशुद्ध कहा गया है, ऐसे ही जीवकी मुक्ति भी अशुद्ध बतायी गई है । यहाँ अशुद्धका अर्थ सविकारता न लेना, किन्तु केवलरहित शुद्धता है, केवल न होना अशुद्धता है । मुक्त दशामें यद्यपि वह केवल रह रहा है, पर मुक्ति शब्द अनाकुलताका सूचक नहीं है । छूट गया, कौन छूटा, किससे छूटा, पहिले छूटा न था, बन्धन था, यह तो कितने ही विकल्पोंमें लिये जा रहा है तो ऐसा मुक्तपना कैसे शुद्ध कहा जायगा ? इसको अविकार रूपकी शुद्धता न देखें और इस प्रकरणमें जितना भी कथन चलेगा सर्वत्र यही दृष्टि रखना । शुद्धताके मायने केवलपना रहना और अशुद्धताके मायने केवलपना न रहना, किन्तु उसके साथ कुछ और बात भी चिपकी हो, चाहे पदार्थ, चाहे कल्पना, चाहे कोई परिणति । तो जब केवल एक शुद्ध द्रव्यकी दृष्टि है तब वहाँ केवल सहज स्वयमेव जीव है, यह दृष्टिगत होता है, और जब व्यवहारनयकी दृष्टिमें आते हैं तो बद्धनयसे तो बद्धता रूपमें अशुद्ध है और अबद्धनयसे यह मुक्त रूपमें अशुद्ध है । इस तरह शुद्ध भी दृष्ट-गत होता है और अशुद्धता भी दृष्टगत होती है ।

एकः शुद्धनयः सर्वो निर्द्वन्द्वो निर्विकल्पकः ।

व्यवहारनयोऽनेकः संद्वन्द्वः सविकल्पकः ॥१३४॥

निश्चयनयका स्वरूप—शुद्धनय एक है, सम्पूर्ण शुद्धनय एक है, अर्थात् ऐसा शुद्धनय जो किसी भी अपेक्षामें व्यवहारकोटिमें शामिल न हो ऐसा वह सम्पूर्णतया जो शुद्ध है वह नय एक है तथा सामान्यतया शुद्धनय और अशुद्धनय विवक्षावश नाना कोटियोंमें हो सकता है । सामने जब कोई विशेष अशुद्धस्वरूपकी बात हो तो उसके सामने कम अशुद्ध वाली बात भी शुद्धनय कहला सकती है, लेकिन जो शुद्धनय ऐसा है कि व भी भी व्यवहाररूप नहीं हो

सकता वह शुद्धनय एक है। उसका विषय अखण्ड एक द्रव्य तत्त्व है जो वचनोंके भी अगोचर है, ऐसा वह शुद्धनय निर्द्वन्द्व है अर्थात् द्वैतभावसे रहित है। द्वन्द्व कहते हैं दो को और जो दो से रहित हो उसे कहते हैं निर्द्वन्द्व। जैसे व्यवहारमें कोई पुरुष अकेला हो तो उसे कहते हैं कि यह तो निर्द्वन्द्व है, इसे कोई फिकर नहीं है। तो जो दो से रहित हो उसे निर्द्वन्द्व कहते हैं। यह शुद्धनय निर्द्वन्द्व है। इसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। यह न किसीसे मिला हुआ है और न इसमें किसी प्रकारकी भेदकल्पना है, इसी कारण वह वचनोंसे भी अगोचर है। शुद्धनयके विषयमें विस्तृत वर्णन किया गया है कि वह शुद्धनय एक नेति गम्य विषयवाला है। उसको कहने वाला जो भी शुद्धसे शुद्ध वचन होगा वह वचन भी किसी धर्मकी मुख्यतासे कहने वाला होगा, क्योंकि जितने भी शब्द हैं वे धातुवोंसे निष्पन्न हैं, धातुवोंका अपना अपना ही अर्थ है। तो किसी भी शब्दके द्वारा अनन्तधर्मात्मक पदार्थ कहे नहीं जा सकते, इस कारण वह निश्चयनय भेदकल्पनासे अतीत है।

**व्यवहारनयका स्वरूप**—व्यवहारनय कैसा है ? इसके स्वरूपको भी इस श्लोकमें बताया है और उस शुद्धनयकी तारीफोंसे प्रतिकूल ही बताया गया है। शुद्धनय एक है तो व्यवहारनय अनेक है। क्योंकि व्यवहारनयके विषय अनेक हैं। व्यवहारनय दो के संयोगको बताता है। संयोगसे उत्पन्न हुए प्रभावको बताता है अथवा एक ही वस्तुमें भेदकल्पना करके विश्लेषण कराता है। यों व्यवहारनयके विषय अनेक हैं अतएव व्यवहारनय अनेक हैं। यह व्यवहारनय सद्वन्द्व है। दो से सहित है, भेदसे सहित है। भेदबिना व्यवहार नहीं है। व्यवहारका अर्थ भी यही है। वि, अव, हरण ये तीन शब्द इसमें हैं, व्यवहारण व्यवहारः विधि पूर्वक भेद करनेको व्यवहार कहते हैं। जहाँ भेद है वहाँ द्वन्द्व है, अथवा व्यवहार दो प्रकारसे बनता है तोड़से और जोड़से। दो वस्तुओंको जोड़ दिया, दो का संयोग बता दिया, उसका भी नाम व्यवहार है, और एक अखण्ड वस्तुमें शक्तियोंको तोड़ दिया, प्रतिपादन करनेके लिए नाना शक्तियाँ बतायी जाने लगे तो यों एक अखण्डका तोड़ करना भी व्यवहार है और वह तोड़ अनेक हो सकते हैं और वह जोड़ भी अनेक हो सकते हैं। यों व्यवहारनय अनेक कहलाते हैं और वे सद्वन्द्व हैं, व्यवहारनय सविकल्पक है। निश्चयनय तो निर्विकल्प है, वहाँ किसी प्रकारका भेद या मिश्रण नहीं है, किन्तु व्यवहारनयमें भेद भी है, मिश्रण भी है, इस कारण व्यवहारनय सविकल्प होता है।

**व्यवहारनय और निश्चयनयमें अन्तर**—व्यवहारनय व निश्चयनय विवरण से यह विदित होगा कि पदार्थका जो यथार्थस्वरूप है, जो केवल निरखनेका ही विषय है ऐसा वह अखण्ड वस्तुस्वरूप व्यवहारनयसे बताया नहीं जा सकता। व्यवहारनयसे बताने की कोशिश तो की जाती है और उस व्यवहारनयसे उस अखण्ड पदार्थकी जानकारी भी

बनती है तथा जानकारीमें जो आये उसे तो ग्रहण कर लिया जाय और व्यवहारनयको हटा दिया जाय तो ऐसी स्थितिमें पदार्थका परिचय हो पाता है । और व्यवहारनय जिन वचनोंसे जो कुछ समझा देता है वह असली रूप नहीं कहा जा सकता । व्यवहारनय तो वस्तुका खण्ड करके प्रतिपादन करता है, इसलिए वस्तुका जो शुद्ध स्वरूप है, सम्पूर्ण अखण्ड रूप है वह व्यवहारनयमें कहा नहीं जाता ।

वाच्यः शुद्धनयस्मास्य शुद्धो जीवश्चिदात्मकः ।

शुद्धादन्यत्र जीवाद्याः पदार्थास्ति नव स्मृताः ॥१३५॥

शुद्धनयसे जीवस्वरूप—इस प्रसंगमें यह बात चल रही है कि जीव शुद्ध भी है और अशुद्ध भी है । शुद्धके मायने पर्यायशुद्ध नहीं कहा जा रहा और अशुद्धके मायने पर्यायमें विकारी नहीं बताया जा रहा, किन्तु एक वस्तुके भेद न किए जा सकें उसे तो कहते हैं शुद्ध और उसका किसी भी ढंगसे भेद कर दिया तो वह कहलाता है अशुद्ध । ऐसी शुद्धता और अशुद्धता बतानेके लिए शुद्धका विषय करने वाले निश्चयनयका विषय और अशुद्धका निश्चय करने वाले व्यवहारका विषय उक्त श्लोकमें कहा गया है । अब यहाँ यह बतला रहे हैं कि जीवका शुद्धस्वरूप क्या है और उसका अशुद्धरूप क्या है ? नयकी दृष्टिमें शुद्धस्वरूप जाना जा सकता है । तब शुद्धनयकी दृष्टि बनाकर जीवकी बातको निरखिये कि वह जीव एकमात्र शुद्ध चैतन्यस्वरूप है । अरे इन शब्दों द्वारा भी तो अखण्ड स्वपदार्थ नहीं कहा जा सकता । यदि कह दिया कि चैतन्यस्वरूप है तो चैतन्यका अर्थ क्या है ? चित् धातुसे जो चैतन्यकी निष्पत्ति होती है उसका अर्थ तो समझ है, जानन है, प्रतिभास है, तो क्या जीवमें केवल जानन ही गुण है ? यदि साधारणगुण न हों तो जानन भी नहीं रह सकता । तथा जाननके साथ आनन्द श्रद्धा आदिक गुण भी हैं । तो चैतन्य शब्दसे भी तो आत्मा पूर्णरूपसे नहीं कहा गया, मगर कहे बिना कुछ मार्ग तो नहीं बनता है । किस प्रकारसे उस अखण्ड तत्त्वका प्रतिपादन किया जाय, परिचय कराया जाय तो व्यवहारनयका आलम्बन अपेक्षिक है । इस व्यवहारनयके बिना तो निश्चयनय भी न जाना जा सकेगा और न कुछ भी समझ बन सकेगी । तो प्रयोग किया जा रहा है व्यवहारनयका, पर निश्चयनयकी दृष्टिसे कैसा है, उस बातको बताया जा रहा है । शुद्धनयके आशयमें यह जीव सदा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है । जीव है तो वह सदा है और उसका स्वरूप सदा है । स्वरूप होता है निरपेक्ष, सहज वस्तुके सत्त्व के ही कारण । जो कुछ है वह वस्तु का स्वरूप है । तो उस स्वरूपको बताया जा रहा कि वह सदा एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप है । इस नयसे जीव सदा एक अखण्डद्रव्य है । और यहाँ किसी भी प्रकारकी पर्यायें नहीं परखी जा रही हैं । यहाँ शुद्धताका अर्थ निर्विकारसे न लेना किन्तु एक केवल, शुद्ध, मात्र यही अपने आपके प्राणोंमें, अपने आपके सत्त्वमें जीव क्या है ?

इस तरहकी निगाह यहाँ रखी गई है। तो शुद्धनयके अभिप्रायमें यह जीव शुद्ध मात्र चिदात्मक है।

**व्यवहारनयसे जीवस्वरूप**—शुद्धनयको छोड़कर अन्य दृष्टिमें आया व्यवहारनयके आशयमें ये जीवादिक ६ पदार्थ कहे गए हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सम्बर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप। यहाँ जीवके जो भेद किये गये हैं, पर्याय बताया है, अवस्था बतायी है, इनके सम्बन्धसे या इनके धर्मसे जो जीवके नाना भेद बन गए हैं ये ६ हैं, ये अशुद्धनयके आशयमें हैं। यहाँ अशुद्धताका मतलब विकारसे नहीं, निर्विकारसे नहीं। प्रकरणमें विकार भी अशुद्ध है, और निर्विकार अवस्था भी अशुद्ध है अर्थात् वह केवल नहीं है, किन्तु किसी सम्बन्धसे उस अवस्थाकी बातका वर्णन किया है। तो भेद करनेका ही नाम अशुद्धता है। और भेद न करके अखण्ड द्रव्यको ही निरखनेका नाम शुद्धता है। ये ६ पदार्थ जीवकी अशुद्ध अवस्थायें कही गई हैं। जीव अब इन ६ पदार्थों का सम्बन्ध रखता हुआ जैसे कि अजीव आस्रव बंध आदिक ढंगसे देखेंगे उन सब ढंगोंसे देखनेके लिए एक कल्पना किया गया वह जीव भेद अशुद्ध जीव है और जिन विभावोंके साथ सम्बन्ध जोड़ा जायगा या जो ज्ञानस्वरूप नहीं है ऐसा कुछ भाव अजीव है, सम्बन्ध है वह एक अशुद्ध जीवका भेद है। जीवमें आस्रव हो रहा है, विभाव आ रहे हैं, मोहादिक परिणतियाँ हो रही हैं ऐसा जो स्वभावमें विभावोंका आस्रव व बन्धन बन गया है व आस्रव बंध भी अशुद्ध अवस्था है। देखो रहना तो चाहिए पदार्थको अपने स्वभावरूपसे ही, यही ईमानदारी है, सच्चाई है, पदार्थका स्वभाव है, लेकिन वहाँ आस्रव हो गया विभाव, बंध गया विभाव, यह एक बन्धन है आस्रव है। आ गए विभाव तो यह भी जीवकी अशुद्ध अवस्था है। अब जीवमें सम्बर पर्याय हुई। ऐसा भाव बना जीवका, भेदविज्ञानका, अभेद स्पर्शका, शुद्धोपयोगका, ऐसा जो भाव बना है यह भाव एक जीवके भेदको, अशुद्धताको बताता है। त्रैकालिक अखण्ड एकस्वरूप परिपूर्ण भावमय जो एक जीवतत्त्व है उसका भेद क्या? जब सम्बर की बात कही जा सकी है तो भेद किया जानेके कारण संवर भी जीवकी अशुद्ध अवस्था है और निर्जरा वह है जहाँ विभाव (विकार) भड़ रहे हैं, सो यद्यपि यह भी जीवके कल्याणकी बात है, लेकिन जीवपदार्थका जो वर्णन किया जा रहा था, अखण्ड निरखा जा रहा था उसके ये भेद किए गए। लो जीव अब ऐसी अशुद्धतामें आया है, इसके विकार भड़ रहे हैं। यह बात निरखी जा रही है। तो यह निर्जरा भी जीवकी अशुद्धता है। अब मोक्षतत्त्व परमपावन तत्त्व जो जीवका एक महान् उद्देश्य है, अनन्त शक्तिमय अवस्था है, है तो उत्तम चीज, किन्तु इस प्रकरणमें जो मोक्ष बताया गया है उससे कितनी ही बातें सिद्ध होती हैं। रहता आया है यह जीव कर्मोंसे बद्ध। अब कर्मोंसे छूट गया। आत्मामें विकार आ रहे थे, अब निर्विकार

अवस्था हुई तो इन सब कथनोंमें अखण्ड जीवतत्त्वका भेद ही तो बताया गया है, सो मोक्ष भी तो जीवकी अशुद्धता कही गई है और पुण्य पाप तो प्रकट अशुद्ध अवस्थामें हैं। तो इस प्रकरणमें एक अखण्ड शुद्ध द्रव्यको दृष्टिमें रखना सो तो उसका शुद्ध बताना है और भेद करना भेद करके जो भी प्रतिपादन है प्रमत्त अप्रमत्त अवस्थायें, कषायसहित कषायरहित, यह सब व्यवहार-कथन है।

एकत्वविभक्त शुद्ध आत्माकी व्यवहारश्रयण बिना प्रसिद्धिकी अशक्यता—देखिये समयसारमें मूल उद्देश्य क्या बताया गया है और प्रतिज्ञा करके बताया है कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कि मैं उस एकत्वविभक्त जीवतत्त्वको कहूंगा। यहां शुद्धपर्यायकी बात नहीं कही है, या ज्ञान, दर्शन आदिक कुछ बातें कहनेकी मूलमें नहीं हैं। मूलमें बतानेका यही प्रयोजन है कि मैं उस एकत्वविभक्त आत्माको दिखाऊंगा। लेकिन दिखायें कैसे, बतायें कैसे? लेकिन तीर्थ-प्रवृत्तिके लिये प्रतिपादन करना ही होगा। अब जितने प्रतिपादन हैं वे सब अभेदपरक न हो सकेंगे, इस कारण वह सब व्यवहारकथन है। और इस तरहसे अनेक बातें व्यवहारसे कही गई हैं। तत्त्वाभिमुख व्यवहारकथन जो बताये गये हैं जगह-जगह वहाँ लोग प्रायः यह भूल जाते हैं कि यहाँ व्यवहारका प्रयोजन ऐसा व्यवहार है और निश्चयका प्रयोजन ऐसा शुद्ध है कि जहाँ कोई भेद न किया जाय, इस दृष्टिसे तो भूल जाते हैं, किन्तु अशुद्ध निश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय, व्यवहार, संयोग—इन सब भेदवाले निश्चय और व्यवहार, शुद्ध और व्यवहार इन लक्षणोंको पकड़ लेते हैं तो कितने ही प्रसंग तथ्यसे गिरे हुए बन जाते हैं। यहाँ यह बताया जा रहा है कि एक अखण्ड अविभक्त अपने आपके एकत्वमें प्राप्त परसे विभक्त, भेदसे भी रहित ऐसा जो द्रव्य है उसका निरखना तो शुद्धनयका विषय है और जितना भी उसमें भेद करके प्रतिपादन है, बद्ध है अबद्ध है, मुक्त है, पवित्र है, अपवित्र है, ये सब उसकी अशुद्धतायें हैं।

ननु शुद्धनयः साक्षादस्ति सम्यक्त्वगोचरः ।

एकोवाच्यः किमन्येन व्यवहारनयेन चेत् ॥१३६॥

सम्यक्त्वगोचर शुद्धनयकी ही प्रयोजकता होनेके कारण व्यवहारनयकी अबाच्यताकी सूचिका एक आरेका—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि सम्यक्त्वका विषयभूत तो एक शुद्धनय ही है और ऐसा स्पष्टरूपसे भी बताया गया है और यही एक उद्देश्य है कि शुद्धनय जाने। किसलिए जाने? क्या माथापच्ची करनेके लिए, किसलिए शुद्धनयका परिचय कराया जा रहा है? इस शुद्धनयका जिसे परिचय होगा और वह उस शुद्धनयमें देखे हुए उस तत्त्व की भक्तिमें आयगा, वह शुद्धका आश्रय करेगा और शुद्धका आश्रय होनेसे उसको सहज अपने आपमें शुद्ध अनुभव जगेगा, जो सम्यक्त्वरूप है। तो सम्यक्त्वका विषय शुद्धनय है तब सार-

भूत तो यही है, तब उसीका कथन करना चाहिए। व्यवहारनयके कथन करनेसे लाभ ही क्या है? जब व्यवहारनय हेय है, अशुद्ध है, सविकल्प है आदिक सब गालियाँ भी देते जाते हो और व्यवहारनयका कथन भी करते जाते हो तो इस व्यवहारके कहनेसे लाभ क्या है? कहा केवल एक उस शुद्धनयको ही। व्यवहारनय जब मिथ्या है तब उसके कहनेकी आवश्यकता क्या है? इस प्रकरणमें यह भी जान लीजिए कि व्यवहारनयमें मिथ्यापनका अर्थ क्या है? व्यवहारनयके मिथ्यापनका अर्थ यह है कि व्यवहारनयसे वस्तुका अखण्ड पूर्णस्वरूप कथनमें नहीं आता। वचनोंसे अगोचर है, लेकिन वचनोंसे अगोचर होनेपर भी जिसने वस्तु का अखण्डस्वरूप समझा है वह सब वचनोंके माध्यमसे ही समझा है और कोई उपाय किया हो किसीने तो बताओ। प्रथम ही प्रथम देशना द्वारा, स्वाध्याय द्वारा, वचनों द्वारा ही तो उस वस्तुके शुद्धनयके विषयको या अखण्ड स्वरूपको समझाया गया है। जब व्यवहारनयकी अनुकम्पासे व्यवहारनयके प्रसादसे हम वस्तुके सही तत्त्वको समझ गए हैं तो ऐसा व्यवहारनय मिथ्या क्यों होगा? मिथ्या तो न कहा जाना चाहिए। लेकिन व्यवहारनयकी जो बात है, वचन है, भाषा है, उसका सीधा अर्थ क्या है? उसका कथन क्या है? केवल उसही में कोई अटककर रह जाय तो वह मिथ्या चीज कहलाती है। जैसे कोई वैद्य अपने शिष्योंको पहाड़ पर ले जाकर एक बेंतके इशारेसे बताता जाय कि देखो यह जड़ी अमुक रोगकी दवा है तथा यह जड़ी अमुककी। तो शिष्य लोग उस बेंतको निरखते हैं कि उसका संकेत किस ओर है? अब उस बेंतको ही अगर कोई शिष्य जड़ी समझ लेवे तो वह मिथ्या है। लेकिन उस बेंतके संकेतकी कृपा जरूर है। तो संकेत मिथ्या नहीं है मगर संकेत ही सब कुछ है ऐसी मान्यता मिथ्या है। इसी प्रकार व्यवहारनयकी अनुकम्पासे शुद्ध तत्त्वका परिज्ञान होता है, ऐसे व्यवहारनयको मिथ्या घोषित कर देना यह तो कोई संगत बात न होगी। उस व्यवहारनयके वचनोंमें जितने शब्दों द्वारा वाच्य बसा है बस उसीमें ही कोई अटक जाय तो वह मिथ्या बन जाता है। तो शंकाकार कह रहा है कि व्यवहारनय जब मिथ्या है तो उसके कहनेकी मानने की क्या जरूरत है? सम्यक्त्वका विषयभूत शुद्धनय है, इस कारण उसे ही केवल कहना चाहिये।

सत्यं शुद्धनयः श्रेयान् न श्रेयानितरो नयः ।

अपि न्यायवलादस्ति नयः श्रेयानिवेतरः ॥१३७॥

उक्त शंकाके समाधानमें न्यायबलसे व्यवहारनयकी उपयोगिताका कथन—उक्त श्लोकमें शंकाकारकी यह शंका थी कि शुद्धनय ही सम्यक्त्वका विषयभूत है। शुद्धनयके आश्रयसे सम्यक्त्वकी निष्पत्ति है। सम्यक्त्वके लिए प्रयोजनभूत शुद्धनय है। तब ऐसी हालत में एक शुद्धनय ही कहा जाना चाहिए। व्यवहारनयके कहनेकी आवश्यकता क्या है? इसके



उत्तरमें यहाँ यह बताया जा रहा है कि यद्यपि यह बात ठीक है कि शुद्धनय उत्तम है और व्यवहारनय उत्तम नहीं है। तो शुद्धनयसे वस्तुका वास्तविक पूर्णरूप बोधमें आता है और व्यवहारनयसे वस्तुका खण्डशः परिचय होता है, इस कारणसे शुद्धनय उत्तम है और व्यवहारनय श्रेय नहीं है। यद्यपि यह बात सत्य है परन्तु क्या किया जाय ? न्यायके बलसे व्यवहारनय भी श्रेयकी तरह प्रतीत होता है। अर्थात् व्यवहारनय न्यायबलसे आपतित है। व्यवहारनयके बिना कोई प्रतिपादन नहीं हो सकता, किसी तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकती, शुद्धनयके विषयका भी परिचय व्यवहारनय कराता है। शुद्धनय और अशुद्धनय दोनो ही प्रतिपक्षी हैं, तो जब शुद्धकी बात कहते हैं तो अशुद्ध तो अपने आप आ गया अर्थात् जो विरुद्ध चीजें हैं उनमें से एकको कहनेसे दूसरेका आभास परिचय तो अपने आप हो ही जायगा। कोई ठंडा कहे तो उसकी दृष्टिमें गर्म कोई स्वरूप नहीं है क्या ? गर्मस्वरूप उसकी दृष्टिमें हुए बिना ठंडा का उसे पता ही नहीं हो सकता है। यदि गर्मका पता न हो तो ठंडी चीजका स्पर्श करके वह तो बस इतना ही कह पायगा "यह"। तो जो प्रतिपक्षी धर्म हैं उनमेंसे किसी एकको कह दिया जाय तो दूसरेका ग्रहण हो ही जाता है।

शुद्धनय व व्यवहारनय दोनोंकी अपने स्थातमें लाभकारिता—अब रही यह बात कि शुद्धनय व व्यवहारनयमें लाभकारी कौन है और अलाभकारी कौन है ? तो वस्तुका पूर्ण अखण्डरूप ग्रहण कराता है शुद्धनय, इसलिए यह लाभकारी है और व्यवहारनय साक्षात् अखण्डका ग्रहण नहीं कराता पर उसकी कोशिश रहती है अखण्डका ग्रहण करानेकी, पर व्यवहारनयकी शब्दविधि इस ढंगकी है कि वस्तुका खण्डशः परिचय करायेगा तो वस्तुका खण्डशः परिचय कराता है। इतने मात्रसे व्यवहारनयको अयथार्थ कह लो, अलाभकारी कहलो, फिर भी न्यायबलसे व्यवहारको मानना ही पड़ता है। और लाभ की बात यह है कि व्यवहारनयका साश्रय किए बिना लाभबाली बातकी भी समझ नहीं बन सकती। इसलिए व्यवहारनय अयथार्थ है, इसका सही अर्थ समझना चाहिए। केवल इतने ही शब्दको लेकर और हर जगह इस बातपर जम जायें कि व्यवहारनय तो अयथार्थ है, मिथ्या है, भूठ है तो यह बतलाओ कि क्या मुक्त जीव भूठे हैं ? क्योंकि मुक्त जीव तो व्यवहारनयका विषय है। मोक्ष तो व्यवहारनयका विषय है। जीवकी अशुद्धतामें जो ६ पदार्थ कहे गए हैं उनमें ही तो मोक्ष है। वह मोक्ष भूठा है क्या ? क्या सिद्ध भगवान् अयथार्थ हैं ? सो तो बात नहीं। यों व्यवहारनयका कोई विषय है इस कारण वह अयथार्थ है, यह बात तो न रही। अयथार्थता का तो बतानेका प्रयोजन यही है कि जब वस्तुके शुद्ध अखण्ड स्वरूपको निरखा जा रहा हो तो उस शुद्ध अखण्ड वस्तुके निरखने के मुकाबलेमें यह व्यवहार अयथार्थ है। अर्थात् शुद्धनय तो हमें बताता है सहज अखण्ड, किन्तु यह बताता है खण्डशः इसलिए शुद्धनय यथार्थ है और

व्यवहार अर्थार्थ है, इस शब्दका लोग दुरुपयोग बहुत करते हैं और उस दुरुपयोगसे सन्मार्ग दूर हो जाता है। शुभभाव, व्यवहारधर्म, सम्बर, निर्जरा आदिक बातें बिल्कुल दूर हो जाती हैं और व्यवहार अर्थार्थ है इसकी मुद्रा सभी घटनाओंमें ठोक दी जाती है। व्यवहार अर्थार्थ है इसका अर्थ यह है कि व्यवहार खण्डशः प्रतिपादन करता है, किन्तु वस्तु खण्डरूप नहीं है, इस तरह व्यवहार अर्थार्थ है और अखण्ड दृष्टिमें लाभकारी नहीं है। फिर भी न्यायबलसे व्यवहारको मानना ही पड़ता है।

**व्यवहारनयकी लाभकारिता**—अब यहाँ व्यवहारके लाभकारी होनेकी भी बात समझियेगा। मोक्ष है, संवर है, निर्जरा है, उपाय है क्या ये लाभकारी नहीं हैं? और हैं व्यवहारनयके विषय तो कैसे कह दिया जाय कि व्यवहारनय लाभकारी नहीं है? व्यवहार लाभकारी नहीं है—इसका अर्थ यह लगाओ कि हमें चाहिए अखण्ड वस्तुकी दृष्टि, जिसके आश्रयसे हम विकल्प, कषाय बन्धनसे मुक्त हों और हममें निर्मल पर्याय ही परिणमती रहे। इसके लिए हमें विकल्प वाला विषय न चाहिए। हमें चाहिए निर्विकल्प अखण्ड दृष्टि। तो निर्विकल्प अखण्ड तत्त्वकी दृष्टिमें तो समर्थ शुद्धनय है। तो उस कामके लिए व्यवहार लाभकारी नहीं है, इतना अर्थ है। अब कोई व्यवहारनय लाभकारी नहीं है—इतना हर जगह अर्थ लपेटता जाय, हर जगह घटाता जाय तो वह सन्मार्गपर न चल सकेगा। तो जिस अनुभवके लिये व्यवहारनय अर्थार्थ है, लाभकारी नहीं है उसका तथ्य समझें तिस पर भी न्यायबलसे व्यवहारको मानना ही पड़ेगा और भी सुनो—कोई पुरुष ऐसा आग्रह करे कि हम तो व्यवहारनयको छुवेंगे ही नहीं, यों ही उस अखण्ड शुद्ध चैतन्यस्वरूपका भान कर लेंगे तो यह न हो पायेगा। अरे पड़ा तो है वह अभी जन्ममरणके चक्रमें, शरीरके बन्धनमें है। अनेक प्रकारके विकल्पोंमें पड़ा है, पर कहता है कि हम बिना व्यवहारका आश्रय लिए ही उस अखण्ड चैतन्यस्वरूपका दर्शन कर लेंगे तो यह कहना उसका ठीक नहीं। यदि ऐसा व्यक्ति कोई हो तो दिखाओ। जो आज अखण्ड तत्त्वकी यथार्थता बताकर व्यवहारको सर्वथा अर्थार्थ बता रहे हैं और दूसरोंका व्यवहार पहिलेसे ही छुड़ा देनेका प्रयास कर रहे हैं, उन्होंने स्वयं व्यवहारका आलम्बन लेकर व्यवहारसे काम निकालकर ऐसी अखण्डदृष्टि पायी होगी। तो व्यवहारके बिना तो निश्चयका दिग्दर्शन न हो सकेगा। इस कारण व्यवहारनय भी श्रेयकी तरह न्यायके बलसे प्राप्त होता है।

तद्यथानादिसन्तानबन्धपर्यायमात्रतः ।

एको विवक्षितो जीवः स्मृता नव पदा अमी ॥१३८॥

**अशुद्धनयसे जीवकी नवपदार्थरूपता**—इस गाथामें शुद्धनय और व्यवहारनयके विषय को अविरोधपूर्वक दिखाया गया है। अनादि संतानसे प्राप्त हुई बंधपर्यायकी अपेक्षासे जब

कहा जाता है तब वही जीव ६ पदार्थोंके रूपसे स्मरण किया गया है। जीव जैसा कि स्वरूपतः शुद्ध केवल अखण्ड कहा गया है। वह अपने आपमें सहज सदा अन्तःप्रकाशमान है। उसका खण्डन नहीं किया जाता क्योंकि बन्धन भी सत् है, वह सब सत् अखण्ड अपने सहज पारि-  
 रागामिक भावस्वरूप है, किन्तु पर्यायको भी मना नहीं किया जा सकता। प्रत्येक सत्में निरन्तर पर्याय होती रहती है। अगर तद्भाव न हो, पर्यायें न हों तो वस्तुका अभाव हो जायगा। तो पर्यायको भी मना नहीं किया जा सकता। तो अब यहां यह परखिये कि यहां पर्याय क्या हो रहा है, परिणामन क्या चल रहे? तो स्पष्ट है कि बंधपर्याय है और यह बंधपर्याय कबसे है? अनादि संतानसे। तो अनादि संतानरूपसे प्राप्त बंधपर्यायकी अपेक्षासे जब कहा जाता है तब वही जीव ६ पदार्थोंके रूपसे देखा जाता है। जीव बंधमें है कि नहीं? बंध है। यहां कर्मोंसे बंधा है—यह न निरखिये। बंधा है। जैसे उसी दिन जिसने बच्चा पैदा किया हो ऐसी गाय उस बछड़े से बंधी है। मालिक बछड़ेको गोदमें लेकर आगे आगे चलता जाता है, गाय उसके पीछे पीछे भागती जाती है। देखिये वह बन्धन ऐसा बन्धन है कि जैसा गिरवा से बांध देनेपर भी नहीं हो सकता। तो वह गाय बंधी है। जिससे बंधी है? लोग तो कहेंगे कि बछड़ेसे बंधी है, पर बात यह है कि उस बछड़ेविषयक जो स्नेह उस गायके लगा है उस स्नेहसे वह बंधी है। तो ऐसे ही यह जीव बंधा है विभावोंसे, राग द्वेषादिक कषायोंसे। बस इसीलिए यह जीव परतंत्रताका अनुभव कर रहा है। अन्यथा बताओ परतंत्रता क्या है? मकान मकानमें है, अनेक लोग वे अपने आपमें हैं। धन वैभव वे अपने पुद्गलस्वरूपमें हैं, सभी पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें हैं। मेरेमें कोई नहीं मिला है। दूसरेमें मैं रंच नहीं जाता। परतंत्रता किस बातकी? जैसे यह कहते लोग कि मैं यह मकान प्रारम्भ करके परतंत्र हो गया, अधूरा रह गया, मैं इसके बड़े आधीन हूँ। अरे जब उस पूरे बने हुए मकानको भी छोड़कर जाना पड़ेगा तो इस अधूरे बने हुए मकानको अभीसे क्यों न छोड़ दीजिये? अमुक मनुष्य यों चलता है, मैं बड़ा हैरान हूँ। अरे क्या हैरानी है, उसका जो परिणामन हो रहा है वह उसमें हो रहा है, आपका जो परिणामन हो रहा है वह आपमें ही हो रहा है। किसीका परिणामन किसी दूसरेमें नहीं पहुंचता। जब ऐसी बात है तो फिर किसी दूसरे जीवके प्रति आपको हैरानी क्यों? हैरानी तो है खुदके भावबन्धन की।

व्यवहारनयके विषयभूत नव पदार्थोंकी वस्तुगतता—हम आप आज बन्धनकी दशा में हैं। यह बन्धन क्यों हुआ? आस्रवसे। आस्रव बिना बन्धन नहीं होता। आस्रव कहते हैं आनेको। आये बिना बन्धन क्या? आये, ठहरे तभी तो बन्धन होगा। जब आस्रव हुआ तभी तो बन्धन हुआ। आस्रव और बन्धके सम्बंधमें यह बात है कि आनेका नाम आस्रव है और उसका समय एक समय है और बन्धनका नाम बंध है, उसका समय कमसे कम दो समयका

है। एक समयके लिए बंध नहीं बताया जायगा। लेकिन बंधका भी अर्थ यह न होगा कि वर्म पहिले समयमें आये और दूसरे समयमें बँधे। दो तीन हजार वर्ष रहें, असंख्यातों वर्ष रहें, तो भी बन्धन पहिलेसे ही माना जायगा। जिस कालमें आस्रव है उसी कालमें बंध है, पर बंध संज्ञा तब मिलती है जब आ गए हैं, ठहर गए हैं, नहीं तो वह आस्रवमात्र है। जिस समयमें आये उस समयमें क्या सम्बन्ध नहीं है? सम्बंध बिना आना किसे कहेंगे? किसीसे कहा जाय कि साहब आप कमरेमें आइये मगर कमरेसे सम्बन्ध न बनाना, तो क्या वह कमरे के अन्दर आ सकेगा? न आ पायगा। तो इसी प्रकार जीवमें जब विभाव आ रहे, विभाव बँध रहे, ये पर्यायें हो रहीं तो इसको कोई कैसे मना करे? ये हो रहे हैं अनादि संतानसे। तो यही जीव ६ पदार्थोंके रूपसे निरख लिया गया। बंध है, आस्रव है, सम्बर भी हुआ, निर्जरा भी होती, मोक्ष भी होता, विभाव भी देखा और विभाव योग्य जीवको भी देखा और उन कर्मोंमें कोई पुण्य है, कोई पाप। हैं ये सब जीवके भेद। भावपुण्य, भावपाप, भाव-मोक्ष, भावसम्बर, भावनिर्जरा, भावबंध, भावास्रव, विभाव, अजीव और विभाव योग्य जो सम्पूर्ण द्रव्य हैं वह जीव। यही तो निरखा गया। तो यह बात क्या असत्य है? जिससे कह दिया जाय कि व्यवहारनयका विषय अर्थार्थ है। कोई पुरुष डंडे मारे और जिसके लगें वह कहे कि भूठ है, मेरे डंडे नहीं लगे, तो चाहे इस तरह बोलता जाय मगर सिरपर तो बीत ही रही है। व्यवहारनय अर्थार्थ है और आस्रवबंध आदिक जो पर्यायें चल रही हैं और बर-बादी हो रही है तो इनको तो इस तरह कहने वाला न टाल सकेगा।

**व्यवहारनयकी अर्थार्थता बतानेका लक्ष्य और व्यवहारनयके विषयभूत पदार्थोंका विशद दर्शन**—व्यवहारनय अर्थार्थ है। इसका लक्ष्य यह है कि वस्तु सहज अपने स्वरूपमें अखण्ड एक है। उसकी दृष्टि जो कोई कर रहा हो उसका भाव ऐसा समूहला हुआ केन्द्रित एकरूप बन रहा है, तब वह अखण्ड हो समझ रहा है। तो वस्तु स्वयं अपने आपमें अखण्ड है। फिर व्यवहारनयसे उसका परिचय कराना होता है तो वह खण्डशः प्रतिपादन करता है। यों तो किसी पुद्गल अणुका ही विचार कर लीजिए। पुद्गल अणुका कैसा स्वरूप है? जैसा स्वरूप है केवली जानता है और शुद्धनयकी दृष्टि बन सके तो यहाँ भी परिचय किया जा सकता है। कर सकेगा कोई विशिष्ट ज्ञानी। अब उसके परिचयमें यह बात बतायी जाती है कि परमाणुमें रस है तो परमाणुमें से केवल रस धोकर ला दीजिए। कहाँ धरा है रस? परमाणुकी तो बात छोड़ो—स्कंधको दृष्टान्तमें ले लीजिए। आममें रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि हैं, पर आपसे कहें कि जरा आमका केवल रूप हमको निकालकर दे दीजिए, बाकी वहीं रहने दीजिए, तो क्या ऐसा किया जा सकता है? नहीं किया जा सकता। यदि वहाँ ये रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि अलग-अलग रखे हों तो कोई उनमें से किसी एकको माँगनेपर देनेका प्रयत्न

करे, वह तो स्वयं वर्णादिकमय है और इसी कारण यह बताया गया है कि अग्रह, ईहा आदिक जो ज्ञान होते हैं वे पदार्थके होते हैं, गुणके नहीं, पर्यायके नहीं। स्पष्ट कहा है “अर्थस्य” वही पदार्थ वर्णरूपसे हो, रसरूपसे हो, गुणरूपसे विदित हो, यह ज्ञानकी पद्धति है। ज्ञानमें आता है वह पदार्थ। तो इस तरह यह जीव शुद्धनयसे तो अखण्ड है और व्यवहारनयसे ये जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप आदि ९ पदार्थों रूप है।

किञ्च पर्यायधर्माणो नवामी पद संज्ञकाः ।

उपरक्तिरुपाधिः स्यान्नात्र पर्यायमात्रता ॥१३६॥

नव पदार्थके भेदका कारण—जीवकी शुद्धता और अशुद्धताके प्रकरणमें कहा जा रहा है कि नव पदार्थ पर्यायधर्मा हैं और इन भेदोंका कारण उपाधि है। यहाँ शुद्धताका अर्थ लेना है निर्विकल्प अखण्ड एक केवल आत्मद्रव्य और अशुद्धताका अर्थ लेना है जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष—इन रूपोंमें देखा गया जीव पदार्थ। तो इस तरहसे जो ये ९ पदार्थ हैं ये पर्यायधर्मा हैं। ये ९ पदार्थ जीवकी पर्यायें हैं। और यहाँ उपरक्ति (उपाधि) लगी हुई है जिसके कारण यह ९ पदार्थोंका भेद पड़ा है। परन्तु यह उपाधि पर्याय मात्रता नहीं कहलाती। अर्थात् उपाधि एक विशिष्टता है किन्तु यह पर्यायमात्र नहीं कही जा सकती। यहाँ मूलपर्यायपर दृष्टि दिलाई गई है। पदार्थकी पर्याय अगुरुलघुगुणके निमित्तसे अर्थात् स्वयंके ही कारण जो षड्गुण हानि वृद्धि है वह पर्याय है। पदार्थमें पदार्थके ही स्वभावसे निरखा जाय तो पदार्थमें निरन्तर परिणामन हो क्या रहा है, वह है अर्थपर्याय। उस अर्थपर्यायमें कोई भेद नहीं पड़ा हुआ है। वह भेदरहित है। जैसे धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्यमें अर्थपर्याय निरन्तर चलती रहती है तो उसमें हम कोई भेद समझ पाते हैं क्या? वहाँ कोई भेद व्यक्त नहीं है। वहाँ विभावगुण व्यञ्जन पर्याय नहीं, स्वभावगुणव्यञ्जन पर्याय व्यक्त हो रही, सो वह होते हुए भी वह व्यञ्जनपर्याय वहाँ तो अर्थपर्याय के अनुकूल है और उसमें अन्तर्लीन है। पर्याय तो वास्तविक अर्थपर्याय है। जो पदार्थके स्वभावसे पदार्थमें निरन्तर रहती है उसे कहेंगे पर्यायमात्रता। तो पर्यायमात्रता उपाधिमें नहीं है, उपाधिके मेलमें नहीं है। उसे तो स्वतंत्रतया निरपेक्ष एक द्रव्यमें ही निरखा जाय तो उसका परिचय होता है। इससे यह भी सिद्ध है कि जीव अजीव आदिक ९ पदार्थ उपाधिरूप हैं। सम्बन्धपर हुए ख्याल विकल्पके कारण ये उत्पन्न हुए हैं।

नात्रासिद्धमुपाधित्वं सोपरक्तेस्तथा स्वतः ।

यतो नव पदव्याप्तमव्याप्तं पर्ययेषु तत् ॥१४०॥

नव पदार्थोंमें उपरक्तिका कथन और जीव पदार्थमें उपरक्तिका घटन—जीवोंके

उपाधि है, यह बात असिद्ध नहीं है, क्योंकि उपरक्ति सहित जीव है, यह बात स्वतःसिद्ध है। इस कारणसे यह कहना युक्तिसंगत है कि इस उपाधिका सम्बन्ध इन ६ पदार्थोंमें ही है, जीव की पर्यायोंमें नहीं, जीवके स्वभावपरिणमनमें नहीं, पर्यायमात्रमें नहीं, किन्तु इन ६ पदार्थों में उपरक्ति व्याप्त है। यहाँ भी भेदवाली दृष्टिसे उपरक्तिको निरखिये—यहाँ विकारों वाली उपरक्तिको ध्यानमें न लीजिए अथवा यों समझ लीजिए—उस उपरक्तिकी बात नहीं कही जा रही है जो रागादिक विकारोंरूप है, किन्तु यहाँ उपरक्तिका मतलब है—परसे कोई सम्बन्ध बनाना। परसे निरपेक्ष होना, सो तो अनुपरक्ति है और परकी जहाँ अपेक्षा है सो ही उपरक्ति है। अब जितने भी ये ६ पदार्थ बताये गए हैं इनमें परकी उपरक्ति है, सम्बन्ध है। जैसे कहा जीव तो इन ६ पदार्थोंमें जो जीव बताया है यह केवल उस चिदात्मक शुद्ध जीवकी बात नहीं कही गई, किन्तु यह जीव व्यक्त जीव है। जैसे हम शुद्ध सहज स्वरूपसे चिग करके और किसी व्यक्तिरूपमें हम जीव हैं यहाँ ऐसा भाव लेना है, वह है जीव पदार्थ। तो अब देखिये—इसमें उपरक्ति क्या हुई? “जीव” ऐसा कहनेमें उपरक्ति यह आयी कि हम कुछ ऐसे व्यक्त मूर्त परिभ्रमण करने वाले संसारमें रहने वाले अथवा एक व्यक्तिरूप छाँटकर हम इसमें जीवकी बात कह रहे हैं। तो ख्यालमें कोई उपराग आया, सम्बन्ध आया, इस कारणसे जीव यह पदार्थ भी एक उपराग सहित कहा गया। ये ६ के ६ ही पदार्थ सोपराग हैं। यहाँ यह बात कही जा रही है और इस बातको इस दृष्टिसे सुनना है कि मोक्षमें भी सोपरागपना घटित हो जाय। मोक्ष क्या रागसहित है? नहीं है। मगर मोक्ष भी एक पदार्थ है इन ६ पदार्थोंमें से, और इन सब पदार्थोंको उपाधि सम्बन्धसे बताया गया है। प्रश्न— तो मोक्षमें क्या उपाधिका सम्बन्ध है? उत्तर— जो ख्यालमें यह आता है कि कर्मसे छूट गए तो चाहे छूटनेके रूपमें भी दूसरेसे सम्बन्धकी बात आयी, ख्यालमें वही उपराग हो गया। तो यहाँ जो शुद्धता और अशुद्धताका वर्णन है सो सविकार पर्याय निर्विकार पर्याय इस नाते से नहीं कहा जा रहा है, किन्तु जहाँ उस निश्चयनयके विषयभूत वचनोंके अगोचर उस शुद्ध केवल अनादि अनन्त शाश्वतभावसे चिगकर जो कुछ कुछ कल्पनामें लाकर उसका रूप देते हैं और यों समझिये कि व्यवहारमें हम थापते हैं बस वही पदार्थ अशुद्ध और सोपराग बताया गया। तो ऐसी उपरक्तता यहाँ असिद्ध नहीं है।

पर्यायमात्रमें अव्याप्त सोपरागकी भेदपर्यायरूप नव पदार्थोंमें व्याप्ति—विवक्षित यह उपराग ६ पदार्थोंमें व्यापक है, पर पर्यायमें व्याप्त नहीं है, अर्थपर्यायमें व्याप्त नहीं है। जीवकी जो निरपेक्ष पर्याय है। जिसमें हटनेकी भी अपेक्षा न हो, लगनेकी भी अपेक्षा न हो, निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनोंके ध्यानसे रहित जो एक सहज केवल मात्रमें निरखी हुई वृत्ति है उसे कहा है यहाँ मात्र पर्याय, उस पर्यायमें यह उपाधि व्याप्त नहीं है और ६ पदार्थों

में यह उपाधि व्याप्त है। जहां संवर, निर्जरा, मोक्ष—इन तत्त्वोंको भी सोपराग बताया गया है वहां यह तो ध्यानमें लाना चाहिये कि यह किस नातेकी उपाधिका वर्णन है और जिस नातेका उपराग, संवर, निर्जरा, मोक्ष पदार्थोंमें लगाया गया है उसी नातेका उपराग इस प्रकरणमें आस्रव, बंध, जीव, अजीवमें भी समझना। यह बात अवश्य है कि आस्रव बंधमें इस प्रकृत उपरागसे भी बढ़कर और उपराग भी लगा हुआ है अर्थात् एक कर्मउपाधिका भी उपराग लगा है लेकिन जिस नातेसे ६ पदार्थोंको यहां अशुद्ध कहा जा रहा है वही सर्वमें देखना है।

सोपरक्तेरुपाधित्वान्नादरश्चेद्विधीयते ।

क्व पदानि नवामूनि जीवः शुद्धोनुभूयते ॥१४१॥

सोपराक्ते न माननेके हठमें दोषापत्तिका दिग्दर्शन—उक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि व्यवहारदृष्टिसे जीव सोपरक्त है, उपाधि सहित है, उपाधि वाला है। तो जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि ६ पदार्थ सोपाधि हैं। इनमें किसी न किसी ढंगसे परका सम्बन्ध कल्पित है, ऐसी उपाधि होने से ये ६ पदार्थ बने हैं तो यहां यह प्रश्न ध्यानमें लाना कि नव पदार्थ सोपाधि हैं तो उपाधि होनेके कारण इनको नहीं मानना चाहिए। ये बिल्कुल भूठ है, अयथार्थ है। उत्तर—यदि उपाधिके कारण इनमें आदर न किया जाय अर्थात् इन्हें माना न जाय, ये बिल्कुल ही भूठे हैं—यों कह करके उड़ा दिया जाय तो फिर जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि ६ पदार्थ ये कैसे सिद्ध होंगे? ये अवस्थायें भी नहीं बन सकतीं। विन्तु यह तो बताओ कि ये बातें क्या हैं नहीं? आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि क्या हैं नहीं? तो जब उपाधि उड़ा दोगे और इनको मानोगे ही नहीं तब फिर ये अवस्थायें या ६ पदार्थ फिर हो ही न सकेंगे और ऐसी स्थितिमें दो विडम्बनायें होंगी, एक तो यह कि सदा शुद्ध जीवका ही अनुभव होना चाहिए। यदि ६ पदार्थ नहीं हैं तब क्या है? वह कोई एक है! तो ऐसा नजर क्यों नहीं आता? अनुभवमें क्यों नहीं आता? फिर तो सदा ही उस शुद्ध जीवका अनुभव होना चाहिए। यहां शुद्ध जीव से मतलब पर्याय शुद्धका नहीं। शुद्ध कहो, मुक्त कहो, मोक्ष कहो, ये तो ६ पदार्थोंमें आ गए। वे तो सोपाधि हैं, मुक्त हुए हैं कर्मोंसे, या यों कहलो कि असिद्धतासे हट कर सिद्ध हुए। यहां तो शुद्ध शब्दसे एक अरुण्ड जीवको वहा जा रहा है जो अनादि, अनन्त, अहेतुक त्रिकाल एकस्वरूप, जो केवल अपने स्वभावमात्र है उसको शुद्ध कहा जा रहा है। यदि ये ६ पदार्थ नहीं हैं तो फिर ऐसा शुद्ध जीव सदा ही अनुभवमें रहना चाहिये। दूसरी विडम्बना यह है कि ६ पदार्थ जब नहीं माने तो इसके मायने हैं कि आस्रव, बंध आदिक अशुद्ध पदार्थ नहीं माना। अथवा जब ये अशुद्ध न माने गए तो शुद्ध जीव भी प्रतीतिमें, ज्ञानमें,

अनुभवमें आ नहीं सकता। उस ही शुद्धकी बात यहाँ भी कह रहे हैं। वह अखण्ड एक अनादि अनन्त अहेतुक चित्स्वभावमात्र है। ऐसे शुद्ध जीवका परिचय कुछ न हो सकेगा, क्योंकि अशुद्ध-या ९ पदार्थ ये तो माने नहीं गए हैं। जहाँ प्रतिपक्ष कोई धर्म नहीं होते वहाँ उस विवक्षित या लक्ष्यमें जिसकी इच्छा की जा रही है उसका भी परिचय नहीं हो पाता। गर्मका ज्ञान न हो तो ठंडेका परिचय कहाँसे आये ? जब हम अनुभवमें लाते कि गर्म ऐसा होता है तभी तो हम ठंडेकी बात बता देते हैं। मान लो सभी चीजें ठंडी-ठंडी ही होतीं तो गर्मका परिचय न होनेसे “यह ठंडा है” यह ज्ञान कहाँसे होता ? जब ये जीवादिक ९ पदार्थ कुछ नहीं हैं तब फिर उस केवल एकका ज्ञान कौन कर सकेगा ? इससे उपाधिका मानना आपत्तित है। और इसी अर्थको यदि शुद्धपर्याय, अशुद्धपर्यायकी दृष्टिसे कोई लाये तो वहाँ भी लगा लेना चाहिये कि जो अशुद्धपर्याय न माने उसको शुद्धका अनुभव कैसे हो ? क्योंकि अशुद्धता शुद्धताका कारण है। इसका कारण यह है कि वह अशुद्धता पूर्ववर्ती है, तथा शुद्धता कार्य है क्योंकि वह उत्तरवर्ती है। तो पूर्ववर्ती चीज जब नहीं मानी गई तो यह उत्तरवर्ती चीज कैसे सिद्ध की जा सकेगी ?

**व्यवहारगत विकल्प हटाकर परखे गये व्यवहारके विषयमें निश्चयनयके विषयकी भूलक—** और भी इस विषयमें समझिये कि व्यवहारनयका या भेदपद्धतिका प्रतिषेध आग्रहमें न लाना चाहिए, क्योंकि निश्चयनयका जो मर्म है, विषय है उसपर ले जानेका काम व्यवहारनयने किया है। जैसे हम कहते हैं कि यह तृणकी अग्नि है, यह कंडेकी अग्नि है, यह लकड़ीकी अग्नि है, यह कोयलेकी अग्नि है आदि, तो यह व्यवहारनयका विषय है। और निश्चयनयसे क्या है ? क्या वह तृणकी अग्नि है ? जब तक तृण है तब तक अग्नि भी नहीं है। तृण की अग्नि तो कहेंगे क्या ? जब तक वह तृण पड़ा है, कब तक वह तृण कहलायेगा ? जब तक कि वह अग्निमें पड़ा नहीं है, उसकी अग्नि क्या ? लगता है ऐसा कि अग्नि कोई भिन्न वस्तु हुई, तृण कोई भिन्न वस्तु हुई, और जब भेदरूपसे सम्बंध जोड़कर कहा गया है तो यह व्यवहारनयका विषय हुआ। लेकिन तृणकी अग्नि, लकड़ीकी अग्नि आदिक कहकर दृष्टि कहाँ पहुंचाया ? उस उष्ण द्रव्यकी ओर। तो इस स्थितिमें व्यवहारनयने बताया तृणकी अग्नि, काठकी अग्नि आदि। ये तृण, काठ आदिक विशेषण यदि हटा दिए जायें तो फिर व्यवहारनयमें जो बताया वह निश्चयनयमें आया। व्यवहारनयने उस अग्निका परिचय कराया और अग्निका परिचय कराया विशेषण लगाकर, काठकी अग्नि आदि कहकर, तो जो परिचयमें आया वह तो सही है, पर उस परिचयमें से विशेषण हटा दिया जाय और जहाँ दृष्टि पहुंचायी गई है वहाँ अपना ज्ञान रखा जाय, लो यह निश्चयनयका विषय बन गया। इस बातको इस तरह समझ लीजिये कि व्यवहारनयका जो विषय है उसमें से यदि सभी विकल्प-समूह दूर



कर दिए जायें तो वही निश्चयनयका विषय हो जाता है । इस कारणसे व्यवहारनय अनादरके योग्य है, न माननेके योग्य है, ऐसा एकान्त न करना ।

व्यवहारकी अयथार्थताके प्रतिपादनका मर्म—व्यवहारको सर्वथा मिथ्या न समझना । वह अयथार्थ नहीं है । किस मैदानमें अयथार्थकी बात कही है उसका मर्म समझे बिना सर्वत्र यह ढिंढोरा पीटना कि व्यवहारनय भूठा है, यह तो कोई भली बात नहीं है । ये जो मनुष्य, तिर्यञ्च आदिककी पर्यायें दिख रही हैं, या हम आप सभी लोगोंकी ये जो नाना स्थितियाँ दिख रही हैं, ये क्या असत् हैं ? क्या ये कुछ भी नहीं हैं ? यदि ये कुछ न हों तो फिर दुःख कैसे हो रहा है ? इसलिए इन्हें सर्वथा असत् न कहना, सर्वथा अयथार्थ न कहना, किन्तु जीव पदार्थका मूल शुद्ध रूप क्या है उसपर दृष्टि जब जाती है तो वह एकत्व दृष्टिमें आया, उसके सामने ये भेद सब अयथार्थ लगे हैं, यों यह व्यवहार अयथार्थ है, कहीं सर्वथा अयथार्थ नहीं हो गया । यह सब तो सिद्धान्तमें वर्णित है । कर्म जीवका सम्बंध बताया है । कर्मके विपाकमें जीवकी परिणतियाँ बतायी गई हैं, और बड़ी सूक्ष्मतासे वर्णन है । श्रेणीमें चढ़ रहे श्रमणोंकी किस-किस तरहसे पर्यायमें निर्मलता बढ़ रही है और किस प्रकारसे उन कर्मोंमें उथल-पुथल हो रही है, कौनसी प्रकृति कहाँसे चिगकर किस स्थितिमें मिल गई है, कितने अनुभाग अपने पूर्वयोजित अनुभागसे चिगकर किस छोटे अनुभागमें मिल गए हैं, किस तरह वहाँ संक्रमण हो रहा है और कहाँ तक किस एक गुणकी धारा बढ़ती रहती है ? यह जो सब कुछ सूक्ष्मसे सूक्ष्म प्ररूपण है क्या यह सब मिथ्या है ? व्यवहारनय मिथ्या है, अयथार्थ है, इसका भाव केवल इतना है कि पदार्थ स्वयं केवल अपने आपमें अपने स्वरूपमें किस प्रकारका स्वरूप लिए हुए है अथवा यों कहो कि परमपारिणामिक भावमय पदार्थ किस रूप है ? उसकी अपेक्षामें अब इसका भेद करना यह भेद अयथार्थ है । अर्थात् जो यथार्थ वस्तु है, पारिणामिक भावमय जो अनादि अनन्त अहेतुक स्वरूप है वह स्वरूप, वही स्वरूप है वस्तुका सहज यथार्थ और उसके खंड करके, अंश करके, शक्तिभेद करके जो कुछ वर्णन हो रहा है उसमें वह स्वरूप नहीं कहा गया है । इस कारणसे यह व्यवहारनयका विषय अयथार्थ है । इतना ही यहाँ अर्थ समझना है और इस ही प्रसंगको लेकर यह कहा गया है कि जो भूतार्थका आश्रय करता है वह सम्यग्दृष्टि है और अभूतार्थका आश्रय करनेमें सम्यक्त्व नहीं है । अर्थात् वस्तुके भेदोंका, खण्डों का, अंशोंका जो आश्रय करता है और उस अखण्ड स्वभावका लक्ष्य नहीं करता है उसको सम्यक्त्व नहीं है, यह कहा गया है ।

ननुपरक्तिरस्तीति किंवा नास्तीति तत्त्वतः ।

उभयं नोभयं किंवा तक्रमेणाक्रमेण किम् ॥१४२॥

उपरक्तिके सद्भावविषयक पांच विकल्पोंमें शंकाकार द्वारा आलोचन—प्रकरण यह

चल रहा है कि जीव शुद्धनयसे शुद्ध, अवाच्य, अखण्ड, निर्द्वन्द्व, निर्विकल्प है और व्यवहार नयसे वह अनेक द्वन्द्व सहित, सविकल्प, अनेक भेद वाला है। तो इसमें कारण यह पूछा गया था कि यह अशुद्धता, यह भेद किस कारणसे आया? तो उत्तर दिया गया था कि उपराग साथमें है, किसी दूसरे विकल्प, दूसरे सम्बन्ध ख्याल साथ होनेके कारण ये भेद बन जाते हैं, और इसी सम्बन्धमें यहाँ शंकाकार ५ प्रकारके विकल्पोंमें शंका रख रहा है कि बतलाओ उपरक्ति कोई इस जीवात्मामें वास्तविक चीज है अथवा नहीं, और अथवा दोनों है? और है दोनों तो क्रमसे है या एक साथ है अथवा दोनों ही नहीं हैं? शंकाकारके ये ५ विकल्प इस प्रकार हैं— १—क्या उपरक्ति है? २—क्या जीवमें उपरक्ति नहीं है? ३—क्या जीवमें उपरक्ति और उपरक्तिका अभाव दोनों हैं, और दोनों हैं तो क्या क्रमसे हैं? ४—यदि जीवात्मा उपरक्त और अनुपरक्त दोनों हैं तो क्या एक साथ हैं? ५—क्या उपरक्ति और अनुपरक्ति दोनों नहीं हैं? इस प्रकार पाँच तरहके विकल्पोंमें शंकाकारने मूल शंका रखी है।

अस्तीति चेत्तदा तस्यां सत्यां कथमनादरः ।

नास्तीति चेदसत्त्वेस्यां सिद्धो नानादरो नयात् ॥१४३॥

उपरागके अस्तित्व व नास्तित्व दोनों विकल्पोंकी शंकाकार द्वारा समालोचना—

उक्त श्लोकमें जो शंकाके ५ विकल्प हैं उनमें से पहिले और दूसरे विकल्पके सम्बन्धमें यहाँ संक्षेपमें शंकाकार अपना आशय रख रहा है। यदि जीवात्मामें उपराग है तो उपरागके होने पर फिर उसका अनादर क्यों किया जाता है? यदि जीवात्मामें उपाधि लगी हुई है तो उस उपाधिको अग्राह्य क्यों बताया जाता है? है तो उसका आदर भी होना चाहिए। उसको अयथार्थ क्यों कहा जा रहा है? प्रकरण यह था कि जीव तो एक ऐसा शुद्ध है और उपाधि सम्बन्धसे वह ख्यालकी उपाधि हुई, कर्मकी उपाधि हुई, कोई विवक्षित कुछ भी उपाधि हुई, उपाधिके सम्बन्धसे ६ पदार्थ बन जाते हैं। और ६ पदार्थ बनाकर यह भी कहा गया कि ये ६ पदार्थ अग्राह्य हैं। अग्राह्य तो एक शुद्ध तत्त्व है। शुद्धनयका विषय है और उसके लिए इतना जोर भी दिया जाता है सिद्धान्तमें कि जो उस भूतार्थका आश्रय करता है सो सम्यक्त्व पाता है। इतनी बात कहनेपर फिर यह जिज्ञासा होती है कि इतना जो व्यवहारका अनादर किया गया है उसे अग्राह्य बताया गया है। एक ओर तो इतनी अनादेयता बतला रहे हैं और कह यह रहे हैं कि जीवात्मामें वास्तवमें उपराग है, तो जब उपराग है तो उसका यहाँ अनादर क्यों हो रहा? उसीको अच्छी तरह डट कर क्यों नहीं माना जा रहा है और उसे अग्राह्य क्यों कहा जा रहा है? शंकाकार की दूसरी शंकाके विकल्पमें अब यह कहा जा रहा कि यदि जीवात्मामें वास्तवमें उपराग नहीं है अर्थात् व्यवहारनयका विषयभूत उपराग कोई वस्तु नहीं है तो जब कोई वस्तु ही नहीं है, उपराग ही नहीं है तो उसमें अनादर भी सिद्ध

कैसे होगा ? कोई सत् हो तब तो उसके बारेमें कहा जायगा कि इसे ग्रहण करो, इसको त्याग दो । जब उपराग कोई वस्तु ही नहीं है तो उसके त्यागका ग्रहण न करनेका, अनादर करने का, झूठा बतानेका प्रयास बिल्कुल मूर्खता भरा है । जब वस्तु ही कुछ नहीं है तो झूठ कैसे कहते ? वस्तु ही कुछ नहीं है तो अनादर किसका करते ?

सत्यामुपरक्तौ तस्यां नादेयानि पदानि वै ।

शुद्धादन्यत्र सर्वत्र नयस्यानधिकारतः ॥१४४॥

उपरागके अस्तित्व सम्बन्धी प्रथम विकल्पकी विसमालोचना—उक्त श्लोकमें प्रथम तथा द्वितीय शंकाके विकल्पके सम्बंधमें संक्षेपमें बात कही गई है । इस श्लोकमें उस ही प्रथम शंका विकल्पके बारेमें कुछ और विशेष कहा जा रहा है । बताये कोई कि जब जीवमें, आत्मा में उपराग वास्तवमें मान लिया गया तो विचार करियेगा । यदि उपराग मान भी लिया जाय तो इतनेपर भी उन ६ पदार्थोंमें ग्राह्यता नहीं आ सकती । कदाचित् कोई उपराग मानकर और ६ पदार्थ सिद्ध करे तो ६ पदार्थोंकी सिद्धि न होगी । क्योंकि शुद्ध पदार्थके सिवाय दूसरे पदार्थके सम्बंधमें नयका अधिकार ही नहीं है । अर्थात् अब व्यवहार कोरी गप्प कहलायेगा, नय भी नहीं । नय तो एक है, बस शुद्धनय । शंकाकारकी यह शंका एक शुद्धनयको ध्यानमें रखकर ही हो रही है, और उसका इतना आग्रह है कि बस नय है तो एक है—शुद्धनय, बाकी तो नय ही नहीं हैं । यह तो एक मनगढ़ंत कल्पना है । यों जब शुद्धनयका ही अधिकार है वस्तुनिर्णयमें तब उपराग भी मान लें तो भी वास्तवमें ६ पदार्थ तो सिद्ध होते नहीं, क्योंकि वह सब तो एक कल्याणकी जगहकी बात है । वस्तुतः तो नहीं है उसमें । तो यों प्रथम शंका विकल्पमें भी ६ पदार्थोंकी बात आ नहीं सकती । यद्यपि इस स्पष्टीकरणमें एक नई सी बात कही गई है, किन्तु आधार है प्रथम शंका विकल्पका कि यदि उपरागको मान लिया जाय तो भी ६ पदार्थ आदेय नहीं बनते । यह सब शंकाकार कह रहा है ।

असत्यामुपरक्तौ वा नैवामूनि पदानि च ।

हेतुशून्याबिनाभूतकार्यं शून्यस्य दर्शनात् ॥१४५॥

उपरागके नास्तित्वविषयक द्वितीय विकल्पकी विसमालोचना—द्वितीय शंका विकल्प के सम्बंधमें १४३वें श्लोकमें कुछ संक्षेपसे वर्णन किया गया था, किन्तु अब इस श्लोकमें उसी द्वितीय शंका-विकल्पके सम्बंधमें कुछ स्पष्टीकरण कर रहे हैं । दूसरा शंका-विकल्प यह था कि जीवात्मामें वास्तवमें उपरक्ति नहीं है । यदि कोई ऐसा समाधान देने लगे कि जीवात्मामें वास्तवमें उपरक्ति नहीं है तो यदि जीवात्मामें उपराग नहीं माना जाता तब तो ये ६ साधन किसी भी प्रकार बन ही नहीं सकते । कोई विकल्प ख्याल सम्बंध भेदबुद्धि ये कुछ भी उपराग नहीं हैं । तो ६ पदार्थ कैसे बन गए ? अथवा कर्म उपाधि नहीं है तो ये

६ पदार्थ कैसे बन गए ? तो उपराग न माननेपर ये जीवके ६ पद नहीं बन सकते, क्योंकि जब कारण ही नहीं है तो कार्य कहांसे हो जायगा ? ६ पदार्थ स्वरूपका भेद होनेका, प्रकार बढ़नेका, शुद्ध अशुद्ध अवस्था होनेका कारण तो कुछ होगा । तो जब उपराग नहीं माना जाता तो कार्यकारणभाव अब न रहा । हेतुरहित दशामें कार्य सूना रह जायगा, क्योंकि हेतुशून्य हो तो कार्यशून्य भी हो, ऐसा अविनाभाव है । तब उपराग न माननेपर यह आपत्ति आती है कि ६ पदार्थ सिद्ध ही नहीं होते ।

उभयं चेकमेरोह सिद्धं न्यायाद्विवक्षितम् ।

शुद्धमात्रमुपादेयं हेयं शुद्धेतरं तदा ॥१४६॥

**उपरागके उभयत्वके क्रम विकल्पकी शंकाकार द्वारा समालोचना**—अब शंकाकारका तीसरा शंकाविकल्प उसका आश्रय लेकर शंकाकार कह रहा है कि यदि जीवात्तामें उपराग और अनुपराग वास्तविक मान लिया जाता है तो क्या वह क्रमसे है या अक्रमसे ? यदि क्रम से है तो इस विकल्पके सम्बंधमें शंकाकार कह रहा है कि उपराग और अनुपराग यदि ये दोनों क्रमसे माने जाते हैं तो भी न्यायबलसे एक शुद्ध मात्र ही ग्राह्य होगा । और दूसरा जो कि शुद्धसे भिन्न है वह अशुद्ध हेय हो जायगा । तो ऐसी स्थितिमें भी ६ पदार्थ ग्राह्य नहीं हो सकते, मानने योग्य नहीं हो सकते । माना कि दोनों हैं, शुद्ध भी हैं, अशुद्ध भी हैं, उपराग और अनुपराग दोनों हैं, और क्रमसे हैं तो यह तो बतलाओ कि लोकमें शुद्धको ग्राह्य मानोगे कि अशुद्धको ? लोकरूढ़ि तो ऐसी है कि शुद्धको वे कह बैठेंगे कि ग्राह्य है तो यहाँ एक जीव ऐसा अखण्ड तत्त्व शुद्ध है और वही जीवादिक ६ पदार्थरूप है, इन दो वर्णानोंमें यदि शुद्ध और अशुद्धकी घोषणा कर दी जाती है तब ग्राह्य तो शुद्ध ही होना चाहिए, अशुद्ध ६ पदार्थ कैसे ग्राह्य हो सकते हैं ?

यौगपद्येपि तद्वैतं न समीहितसिद्धये ।

केवलं शुद्धमादेयं नादेयं तत्परं यतः ॥१४७॥

**उपरागके अक्रम उभयत्वकी शंकाकार द्वारा समालोचना**—अब इस श्लोकमें शंकाकारका चौथा शंकाविकल्प बताया गया है । शंकाकार कह रहा है कि यदि उपराग, अनुपराग दोनोंको तुम मान लेते हो और उसे मानते हो एक साथ तो उपराग और अनुपराग दोनों एक साथ मान लेनेपर तो दोनोंसे ही अभीष्ट सिद्ध न होगा, क्योंकि दोनों भी मान लिया और एक साथ मान लिया फिर भी ग्राह्य तो शुद्ध ही होगा, अशुद्ध कैसे ग्राह्य हो जायगा ? क्रमसे माना था तो वहाँपर भी ग्राह्य सिद्ध रहा और अशुद्ध ग्राह्य न रहा, मानने योग्य न रहा, तो एक साथ मान लीजिए शुद्धता और अशुद्धता, इन दोनोंको, तो एक साथ माननेपर भी यह असली बात कैसे मिटा दी जायगी कि ग्राह्य तो शुद्ध होता है, अशुद्ध तो अग्राह्य है, अर्थार्थ

है, न मानने योग्य है। तो यहाँपर भी तो ६ पदार्थ न बन सके। एक वही शुद्ध एक अखण्ड तत्त्व निरूपराग वही एक सत्य रहा, तथ्य रहा, ग्राह्य रहा, तो ६ पदार्थ फिर भी न बन सके, इस तरह शंकाकारकी चौथी शंकाके विकल्पमें भी आपत्ति रखी जा रही है।

नैकस्यैकपदे स्तो द्वे क्रिये वा कर्मणी ततः ।

यौगपच्चमसिद्धं स्याद् द्वैताद्वैतस्य का कथा ॥१४८॥

उपरागविषयक अनुभयत्वके पञ्चम विकल्पकी शंकाकार द्वारा समालोचना—अब शङ्काकार ५ वीं शङ्काके विकल्पके सम्बन्धमें कह रहा है कि उपराग और अनुपराग—इन दोनोंको ही नहीं मानते तो न उपराग है, न अनुपराग है, ऐसी अत्यन्त शुद्धता जैसी बात पकड़ते हैं तो इस स्थितिमें चलो—पहिले तो अनुभय माननेका आधार सुनो। शङ्काकारके इस विकल्पका ही समर्थन किया जा रहा है कि न उपराग है, न अनुपराग है। यह बात यों बनी कि एक पदार्थमें उसके एक स्थानमें दो क्रिया नहीं रह सकती, दो कर्म नहीं रह सकते, एक पदार्थमें एक साथ एक जगह दो कर्म कभी सम्भव नहीं हैं और इसी कारण जीवमें एक साथ शुद्धता और अशुद्धता नहीं बनती। तो यों यदि अशुद्धता और शुद्धता दोनों को ही मना कर दिया जाय ऐसा यदि कोई माने तो इस स्थितिमें फिर द्वैत और अद्वैतकी कथा ही कैसे की जा सकती है? जब न शुद्धता है न अशुद्धता है तो यह भी नहीं कह सकते कि तत्त्व अद्वैतमात्र है और न यह कह सक सकते कि तत्त्व ६ पदार्थरूप है। दोनों जगह बोल बन्द हो जायगा। यदि उपराग और अनुपराग दोनोंको नहीं माना जा रहा तो इस तरह अनुभय है (न उपराग है और न अनुपराग है)। इस मान्यतामें तो यह दोषापत्ति आ रही है कि उस समय द्वैत अद्वैतकी कथा ही नहीं की जा सकती।

ततोऽनन्यगतेर्न्यायाच्छुद्धः सम्यक्त्वगोचरः ।

तद्वाचकश्च यः कोपि वाच्यः शुद्धनयोपि सः ॥१४९॥

उक्त विकल्पसमालोचनाओंसे शंकाकारका केवल शुद्धनयकी ही रूताका निर्णय—शंकाकार अपनी इस ५ वीं शंकाके विकल्पमें सिद्धान्तमें दोषापत्ति दे करके अब फलितरूपमें अपना निर्णय रख रहा है। शंकाकारका निर्णय यह है कि जब उक्त शंका विकल्पमें कोई गति न रह सके अर्थात् उन शंकाओंका जब ठीक समाधान नहीं दिया जा सक रहा तो ऐसी स्थितिमें फिर घूम फिरकर जब कुछ चारा ही न चले तब यही मान लेना पड़ेगा कि शुद्ध ही एक पदार्थ है और वही सम्यक्त्वका विषयभूत है, जो सम्यग्दर्शनका विषयभूत शुद्ध पदार्थ है वही एक तत्त्व है और उसी पदार्थका कहने वाला कोई नय हो सकता है और वह नय है शुद्धनय, निश्चयनय, व्यवहारनय नहीं है। वह सर्वथा अर्थार्थ है, वरूपनाकी चीज है। ६ पदार्थोंकी मान्यताका सिद्धान्त यह नितान्त गलत है। शंकाकारकी यह शंका केवल शुद्धनयके

आग्रहमें हो रही है और इसे यदि किसी अन्य दार्शनिकोंके साथ मेल करना हो तो इसका मेल वेदान्त अथवा सांख्यसिद्धान्तसे कर लीजिए—इन सिद्धान्तोंमें आत्माका स्वरूप शुद्ध चैतन्य बताया गया है। ऐसा शुद्ध चैतन्य कि जिसमें ज्ञान भी नहीं है, जानना भी नहीं है। ज्ञानको तो यहाँ ऊधम बताया गया है और उसे प्रकृतिका विकार कहा गया है, अथवा ब्रह्माद्वैतवादमें उसे माया कहा गया है। यह सब जो जानन हो रहा, समझ बन रही, इतनी जीवोंकी गतियाँ हो रहीं या यहाँ जो कुछ भी दिख रहे हैं चेतन अचेतनके ढंगसे पदार्थ ये सब माया हैं। तत्त्व तो एक ब्रह्मस्वरूप है और तत्त्व तो एक चैतन्यमात्र है। सांख्यसिद्धान्तके अनुसार सोच लीजिए—तो दृष्टि एक ऐसे शुद्ध तत्त्वपर गई कि जिस शुद्धताका अत्यन्त आग्रह कर लिया गया कि बस यही एक तत्त्व है। यहाँ पर्यायको उड़ा दिया गया और भेदको उड़ा दिया गया है। व्यवहारनय भेद और पर्याय दोनों ही पद्धतियोंसे वर्णन करता है। तो जीवकी जब पर्यायें उड़ा दी गईं उन दार्शनिकोंके सिद्धान्तमें तो वहाँ भी आस्रव, बंध, सम्बर, निर्जरा आदिक कुछ सिद्ध नहीं होते। तो ऐसा ही यहाँ शंकाकार भी कह रहा है कि चीज तो एक हुआ करती है, नय भी एक ही है, वह शुद्धनय है और तत्त्व भी वही एक है जो शुद्धनयका विषयभूत है और वही सम्यक्त्वका विषयभूत है, अथवा वह सम्यक्त्व ही है, अथवा वह एक शुद्धमें स्थित है। कुछ भी कहो, है केवल एक ही, तब फिर ६ पदार्थ कहाँ रहे? व्यवहारनय सर्वथा मिथ्या है। ६ पदार्थोंरूप जो जीवकी अशुद्धता बतायी गई है कि जीव अशुद्ध है और वह इन ६ पदार्थोंमें समझा गया है तो ऐसी अशुद्धता कोई वस्तु नहीं है। तो व्यवहारनय मिथ्या है, अशुद्धता मिथ्या है और ६ पदार्थोंकी बात बहना मिथ्या है, ऐसी शंकाकारने शुद्धनयके आग्रहमें अपनी बात रखी।

नैवं त्वनन्यथासिद्धेः शुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः।

विरोधेप्यविरोधः स्यान्मिथः सापेक्षतः सतः ॥१५०॥

शंकाकारकी प्राकरणाक शंका—प्रकरण यह चल रहा था कि जीव तो एक केवल अपने स्वरूपमात्र है, जिसकी सत्ता सहज अपने आप जिस रूप है, जिस स्वभावमय है, मात्र वही जीव है। उस जीवके व्यवहारनयसे आश्रयसे भेद किये गये—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सम्बर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप। ये जो ६ भेद हुए हैं। इन भेदोंका कारण क्या है? ऐसा पूछा जानेपर यह उत्तर दिया गया था कि उपाधि कारण है, उपराग कारण है। उपाधि और उपरागके अनेक अर्थ हो सकते हैं, जिनमेंसे मुख्य बात यह लेनी है कि उस अखण्ड निर्विकल्पात्मक जीवमें जो कुछ कल्पना की, पर्याय दिखी, अवस्था निरखी, उसमें जो कुछ भेद किया तो यही भेद मुख्यतया उपराग है, और साथ ही कर्मका भी उपराग है। कहीं कर्मके वियोग का ख्याल है, कहीं कर्मके संयोगका ख्याल है। कर्म, भेद, पर्यायदृष्टि कुछ भी बनी हो यह

उपराग कहलाता है । तो इस ही उपरागके सम्बन्धमें शंकाकारने ५ विकल्प उठाये थे कि वास्तवमें जीवमें उपराग है अथवा नहीं अथवा दोनों है तो क्रममें हैं अथवा दोनों हैं तो एक साथ हैं अथवा दोनों ही नहीं हैं ? इस तरह ५ विकल्पोंमें शंकाकारने प्रश्न किया और प्रत्येक विकल्पका शंकाकारने समाधान देकर यह सिद्ध किया कि वास्तवमें एक शुद्धनय ही है और वही कहना चाहिए, बाकी कुछ न कहना चाहिए ।

उक्त शंकाके समाधानमें जीवकी शुद्धता व अशुद्धता दोनोंका समर्थन—उक्त शंकाके उत्तरमें यहाँ कहा जा रहा है कि शंकाकारका उक्त आशय संगत नहीं है, क्योंकि जीवमें शुद्धता और अशुद्धता दोनों ही सिद्ध हैं अन्यथा अर्थात् इन दोनोंमें से एक न माना जाय तो दोनोंकी सिद्धि नहीं हो सकती । इस कारणसे दोनोंका ही मानना आवश्यक है । अशुद्धता माने बिना और इस भेदके रूपमें जीवको परखे बिना जीवमें रहने वाली उस शुद्धता, केवलता को न जान सकेंगे । इसलिए अशुद्धताका मानना भी जरूरी है और शुद्धताका मानना तो नितान्त जरूरी है, क्योंकि उस ही एक अखण्ड शुद्ध चिदात्मक जीवका ही आश्रय करके धर्म होगा, विकास होगा, संसार मिटेगा, कल्याण होगा, इस कारण शुद्धताका मानना भी आवश्यक है । तो शंकाकारके यह विकल्प कि शुद्धता है या नहीं है या दोनों ही नहीं है—इसका उत्तर यह है कि दोनोंका मानना आवश्यक है । रही विरोधकी बात । जैसे कि शंकाकारने दोनोंके माने जानेपर विरोधकी बात दिखायी थी, सो विरोध होनेपर भी अविरोध है । यद्यपि शब्दोंसे ऐसा लगता है कि शुद्धता और अशुद्धता दोनों एक जगह कैसे रह सकेंगी ? लेकिन नहीं, दोनों एक जगह हैं । यहाँ शुद्धताके मायने विकार पर्याय नहीं लेना है कि भाई अशुद्ध जीव हैं, अज्ञानी मोही जीव हैं, वहाँ बताओ कि कैसे अशुद्ध पर्यायों भी रह रहीं और शुद्ध भी, सो बात नहीं कही जा रही है, किन्तु भेद न करना इसका नाम है शुद्धता, और भेद करना इसका नाम है अशुद्धता । तो जीवके ये पदार्थरूप भेद किए गए हैं, किसी भी उपाधि सम्बन्ध से मान लिया जावे, पर इन ६ भेदोंके होते हुए भी इनमें शुद्धता है । दूसरी बात यह भी है कि विकाररूप अशुद्धता मान लें तो विकाररूप अशुद्धताके होनेपर भी जीवका एकत्व तो कहीं नहीं गया । जीवका जो निज स्वरूप है वह स्वरूप तो नष्ट न होगा, इसलिए अशुद्धताके होने पर भी शुद्धता है । यहाँ अशुद्धताको तो विकार पर्यायरूपमें निरख लीजिए, पर शुद्धताको शुद्ध पर्यायरूपमें यहाँ मत समझिये—शुद्धता मायने उसका एकत्व उसका निज स्वरूप । अपने आपकी सत्ताके ही कारण उसमें होने वाला यह एकत्व वह है शुद्धता । ऐसी शुद्धता तो अशुद्धता होनेपर भी रहती है । तीसरी बात यह समझ लीजिए कि पदार्थ परस्पर अपेक्षाको लिए हुए हुआ करता है । शुद्धता और अशुद्धता किस दृष्टिसे कही गई है ? यह जरूर दृष्टि होती है, उस अपेक्षाके कारण यहाँ विरोध नहीं आता, किन्तु अपेक्षा तो विरोधको समाप्त कर

देती है ।

नासिद्धानन्यथासिद्धिस्तद्वयोरेकवस्तुतः ।

यद्विशेषेपि सामान्यमेकमात्रं प्रतीयते ॥१५१॥

शुद्धता और अशुद्धताकी अनन्यथासिद्धि होनेसे प्रमाणसिद्धता—उक्त श्लोकमें यह समाधान बताया गया है कि शुद्धता और अशुद्धता दोनों ही आवश्यक हैं, सो इनको अनन्यथासिद्ध बताया गया है अर्थात् एक न माने तो दूसरा सिद्ध नहीं होता, इस कारण दोनोंका मानना ही आवश्यक है । यह बात जो कही गई है वह असिद्ध नहीं है, किन्तु प्रमाणसिद्ध है, क्योंकि दोनों ही एक वस्तु तो हैं । जब शुद्ध जीव कहा तब भी जीव सत् ही तो पकड़ा गया और जब अशुद्ध जीव कहा, जीव अजीव, आस्रव आदिकके रूपमें कहा गया तो वहाँ पर जीवकी ही तो बात कही गई । तो दोनों ही जगह एक वस्तु है इस कारणसे शुद्धता और अशुद्धता दोनोंका मानना आवश्यक है । वह बात सिद्ध होती है और स्पष्ट विदित होता है कि जिसका विशेष होनेपर भी वहाँ एक मात्र सामान्य है । सामान्य और विशेष इन दोनों से हटकर । इनमें से किसीसे हटकर किसी भी एकान्तमें उसकी स्थिति, गति नहीं हो सकती है । प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है । जैसे मनुष्य सामान्य, मनुष्य विशेष यहाँ सारे मनुष्योंमें रहने वाले मनुष्यसामान्यपर दृष्टि न कीजिए, एक ही मनुष्यकी बात कही जा रही है । मनुष्य सामान्य, मनुष्य विशेष । बालक मनुष्य वही, जवान मनुष्य वही और बूढ़ा मनुष्य वही । एक ही मनुष्यमें जो अनेक पर्यायें हैं यह तो हुआ मनुष्यविशेष और इन सब अवस्थाओंमें रहने वाला जो मनुष्य सामान्य है वह हो गया मनुष्य सामान्य । अथवा एक मनुष्यकी बात कह रहे हैं । यह उदार है, क्षमाशील है, निष्पक्ष है आदिक अनेक बातें उसकी बता रहे हैं, यह तो है उसकी विशेषता और इन विशेषोंपर दृष्टि न दें और केवल एक ही झलक लें—यह मनुष्य, तो यह हो गया मनुष्य सामान्य तो हर जगह सामान्य और विशेष घटित होगा । तो जब जीव सत् है तो वह भी सामान्यविशेषात्मक है । तो जीव सामान्य तो हुआ वह निश्चयनयका विषयभूत भूतार्थ स्वरूप, प्रतिषेधगम्य वह अखण्ड सत् और विशेष हुए ये जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप ।

जीवादिक नव पदार्थोंका स्वरूप—इन ९ पदार्थोंको इस तरह निहारना कि अखण्ड चिदात्मक जीवको तोड़कर जो बुद्धिमें आया वह थाम दिया और ऐसी बुद्धि करके थापा कि जिस जीवके सम्बन्धमें ये आस्रव बंध आदिक पर्यायें कहीं जायेंगी, ऐसा ख्यालमें लाया हुआ वह जीव पदार्थ जीव है और उस ही जीवमें ज्ञान धर्मसे अतिरिक्त जो भाव निरखे जा रहे हैं उन भावोंकी दृष्टिसे जो इसे देखा है तो वह हो गया अजीव अर्थात् उस ही जीवको अजीव कह रहे, कहीं पुद्गलकी बात नहीं कह रहे हैं । नहीं तो जीवकी ये ९ अवस्थायें कैसे



बनेंगी ? तो जीवमें जो रागद्वेष, क्रोध, मान आदिक भाव पाये गए अथवा आचार्योंने तो यहां तक कहा कि प्रमेयत्व आदिक धर्मकी दृष्टिसे तो वह अचेतन है और ज्ञानदृष्टिसे वह चेतन है । तो उसही एक जीव पदार्थमें दृष्टि लगाकर जो ज्ञानातिरिक्त धर्म हैं उन धर्मोंकी प्रधानता करके जब निरखा तो वह कहलाया अजीव । अब जीवमें जो अजीवका, विभावका, रागादिक का जो आना हो रहा तो आना क्या जीवसे पृथक् चीज है ? क्या राग दूसरी जगहसे आ रहा है ? यहाँ आनेका अर्थ कोई कदम रखकर चलनेकी बात है । वह तो जीव है और जीवमें आस्रवभाव की निष्पत्ति हो रही है, बस उसके श्रोतका नाम आस्रव है । आस्रवका सही अर्थ आगमन नहीं है । आस्रवका अर्थ है चूना, स्रुत होना । स्रवण होना आत्माके सर्व प्रदेशोंसे भ्रिरना इसका नाम है आस्रव । जैसे पहाड़से पानी भिरा, चुआ और ऐसा भी चूना मत देखें कि जहाँ एक मोटी धार निकल रही हो, किन्तु जहाँसे बूंद-बूंद भी चूता है । तो जैसे ऐसा चूना कितने स्थानोंसे हो रहा है ? बहुत क्षेत्रोंसे यों ही आत्माके सर्वप्रदेशोंमें से जो भी आस्रवभाव निकला यह हुआ स्रवण, चूना । स्रवणको हम पहिलेसे नहीं परख सकते कि कहाँसे आया ? गमनको तो हम अलगसे जान लेंगे कि यह आया, यहाँसे आया । और आनेमें तो क्षेत्र भेद भी है । कहाँसे आये, कहाँ आये ? उधरसे आये इधर आये, लेकिन स्रवणमें यहाँ क्षेत्र भेद नहीं है । चुवा, यहाँसे चुवा, यहीसे निकला । तो इसी कारण यहाँ आगमन अर्थ नहीं कहा । आस्रवका अर्थ आगमन स्थूल रूपमें कह देते हैं, किन्तु अर्थ है आत्माके सर्वप्रदेशों से भ्रिरना, इसका नाम है आस्रव । तो भी आस्रव क्या अलग वस्तु है ? वह जीव पदार्थ ही तो है । संवर आस्रवका रुकना सो संवर । आत्मामें जो रागादिक भाव भ्रिरते थे उनका भ्रिरना बन्द हो गया । अब भ्रिर नहीं सकते । यहाँ उनका उपशम नहीं हुआ (दबाया नहीं गया) किन्तु ऐसा ही कुछ हो गया कि जिससे भ्रिरनेका नाम न रहे, सूख गया । भीतर भी गीला न रहा । जिनका संवर हुआ है उनका गीलापन भीतर भी नहीं है । पूरी तरहसे उसका निरोध है । भले ही कुछ बद्ध प्रकृतियाँ सत्तामें स्थित हैं, किन्तु नवीन नहीं आते । तो ऐसा जो संवर है वह क्या अन्य वस्तु है ? वह भी जीव ही तो है । बंध—जो भ्रिरना हो रहा था, जो जीवमें विभाव आये वे विभाव आये तब कहलाये जब कि एक समयमें ही आना और जाना हो गया । वे वहाँ ठहरे नहीं । वह तो कहलाया स्रवण । लेकिन दूसरे समय भी अगर ठहर गए तो वह हो गया बन्ध । दूसरे समय ठहर जाने पर भी बन्ध कहलायगा पहिले ही समयसे, क्योंकि पहिले समयमें क्या स्पर्श न था ? तो ऐसा जो जीवमें विभावोंका बंधन है वह बन्धन भी जीव वस्तु ही तो है, अन्य कोई नहीं । निर्जरा—जो जीवमें यह विभाव बंधन होता है, यह संस्कार चल रहा है । संस्कार ही रूतम हो जाय उसको कहते हैं निर्जरा । जो विकार हैं वे भड़ें इसका नाम है निर्जरा । तो ऐसे जो विकार भड़ते हैं उस भड़नेकी

स्थितिमें जो जीवका परिणामन है वह क्या जीव वस्तु नहीं है ? मोक्ष—जीवका विकारोंसे बिल्कुल हट जाना पूर्ण निर्विकार हो जाना ऐसी जो विकारोंसे रहित अवस्था बतायी गई है वह क्या जीव नहीं है ? शुभ अशुभ भाव ही पुण्य पाप है, ये भी जीव ही तो हैं । तो जीवके विशेषमें ही ये ६ पदार्थ होते हैं ।

जीवविशेषोंमें भी एक सामान्य मात्र शुद्ध जीवत्वकी प्रतीति—जीवमें उक्त प्रकारकी शुद्धता और अशुद्धता दोनों माननेमें कोई विरोध नहीं है । फिर भी अशुद्धता होनेपर भी सर्व जगह जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सम्बर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप सर्व अवस्थाओंमें वह एक सामान्य विराज रहा है, और विवेकी पुरुष उसकी प्रतीति भी कर लेता है । ज्ञानदृष्टिकी बात है, ज्ञानयोगकी ऐसी अवाध गति है कि जिसका लक्ष्य बना लें, यह ज्ञान बीचकी सब चीजोंको छोड़कर, उनसे न अटककर अपने लक्ष्य वाले तत्त्वपर उसका प्रयोग हो जाता है । जैसे हड्डीका फोटो लेने वाला यंत्र मनुष्यकी चमड़ी, रोम, बाल, मांस, खून आदिक किसीको भी ग्रहण न करके हड्डीका फोटो ग्रहण कर लेता है । अब हड्डी तो बहुत भीतर है, इस मनुष्य शरीरके बीचमें है, और उस हड्डीपर इतने पर्दे पड़े हुए हैं लेकिन उस एक्सराने किसीका भी चित्र नहीं लिया । सबकी अटक छोड़कर किसीमें भी नहीं अटका और हड्डीका फोटो ले लिया । ऐसे ही समझिये कि यह ज्ञानदृष्टि इतनी अबाधित और लक्ष्यको बेधने वाली है कि बीचमें अनेक पदार्थ पड़े रहते हैं तो किसी पदार्थमें नहीं अटकती और ठीक उसी लक्ष्यको जान लेती है । जैसे यहीं बैठे हुए आप अपने कमरेमें अलमारीके भीतर पेटीके अन्दर और कपड़ेकी छोटी पोटलीके अन्दर किसी डिब्बामें कोई स्वर्णकी कीमती चीज रखे हुए हैं, मानो कीमती अंगूठी रखे हुए हैं तो आप यहाँ बैठे बैठे ही उसे स्पष्ट रूपसे देख लेते हैं, जान लेते हैं । उसका सही ज्ञान कर लेते हैं । देखिये—यहाँसे उस अंगूठी तक कितनी ही चीजें आड़े पड़ रही हैं—दीवाल, किवाड़, सन्दूक आदिक, पर यह ज्ञान उनमें कहीं नहीं अटकता । सीधे उस अंगूठीका ज्ञान कर लेता है । इसी तरह जीवकी इस समय स्थितियाँ विशेष हैं, मनुष्य है, कर्म है, विभाव हैं, विकल्प विचार हैं, ये सभी लदे हुए हैं, इस स्थितिमें फिर भी यह ज्ञान यदि अपने आपके आत्मामें सहज अनादि निधन स्वरूपको जानना चाहे तो इन सबको अटकमें वह न अटक कर, इनको ज्ञेयाकार रूपसे भी ग्रहण न करके, होते हुए भी इनको ज्ञेयाकार भी न बनाकर सीधा अखण्ड चिदात्मक स्वरूपको जान लेता है । ज्ञानमें ऐसी अबाधित शक्ति है । ऐसा यहाँ कहा जा रहा है कि जीवके विशेष ये ६ पदार्थ तो हैं, तिसपर भी एकमात्र सामान्य प्रतीतिमें आ जाता है । मूल वस्तु, सहज वस्तु अपनी ही सत्तासे अनुस्यूत है । पदार्थ वह स्वयं कैसा है ? यह बात जिनकी निगाहमें आयी है अपने आत्माके सम्बन्धमें यह तत्त्व जिनकी दृष्टिमें आया है और दृष्टिमें आनेके कारण जिनका

किसी सत्यके प्रति आग्रह हो गया है। मैं तो यही हूँ, अन्य नहीं हूँ। इस तरहका जिनको ज्ञान बना है समझिये उन्होंने भूतार्थका आश्रय किया और इस भूतार्थका आश्रय करनेसे उनके सम्यक्त्वकी निष्पत्ति हो जाती है।

तद्यथा नव तत्त्वानि केवलं जीवपुद्गलौ ।

स्वद्रव्याद्यैरन्यत्वाद्दस्तुतः कर्तृकर्मणोः ॥१५२॥

नव तत्त्वोंकी जीवरूपता व पुद्गलरूपता—ऊपर कहे गए समाधानका कुछ स्पष्टीकरण किया जा रहा है। यहाँ बताया जा रहा है कि वस्तुरूपसे यदि विचार किया जाय तो ये ९ पदार्थ केवल जीव और पुद्गलरूप पड़ते हैं। इन्हीं ९ पदार्थोंको जीवरूप भी निरखा जा सकता है और पुद्गल द्रव्यकी भी अवस्थारूपसे निरखा जा सकता है। यद्यपि केवल जीवमें ये ९ अवस्थायें नहीं हो सकतीं और केवल पुद्गलमें भी ये ९ अवस्थायें नहीं हो सकतीं। परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है तब ९ अवस्थायें हैं, फिर भी प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे ही सत् होता है। इस कारण पृथक्-पृथक् इन दो द्रव्योंमें इन ९ अवस्थाओंको देखा जा सकता है। ये ९ जीवकी अवस्थायें हैं, और पुद्गलकी अवस्थायें हैं, ऐसा यहां निर्णय बताया गया है और इस ही में यह समाधान भी अन्तर्निहित है कि कर्ता और कर्म वस्तुतः अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अनन्य होते हैं। शङ्काकारने एक यह विकल्प भी रखा था कि एक पदमें दो क्रियायें और दो कर्म नहीं हो सकते, सो बात सही है। एक वस्तुमें दो दो क्रियायें नहीं हैं, किन्तु उस वस्तुकी क्रिया उसमें है, अन्य वस्तुकी क्रिया उसमें है और तभी प्रत्येक वस्तु अपने आपका कर्म है। तो यहां जीव और पुद्गलमें कर्तृत्व और कर्मत्व देखा जा रहा है। पुद्गलकी ९ अवस्थाओंमें पुद्गल व्याप रहा, जीवकी ९ अवस्थाओंमें जीव व्याप रहा। इस तरह कर्ता कर्मकी अभिन्नता सिद्ध होती है, प्रत्येक पदार्थमें अपना-अपना कर्तृत्व व कर्मत्व है। अतः वह विकल्प भी संगत नहीं है।

ताभ्यामन्यत्र नैतेषां किञ्चिद्द्रव्यान्तरं पृथक् ।

न प्रत्येकं विशुद्धस्य जीवस्य पुद्गलस्य च ॥१५३॥

जीव और पुद्गलकी प्रत्येककी ९ अवस्थायें होने का कारण—जीव और पुद्गलके सिवाय अन्य किसी भी द्रव्यमें ये अवस्थायें नहीं हैं। इन दो द्रव्योंको छोड़कर ९ पदार्थ कोई अन्य द्रव्य नहीं कहलाते हैं और साथ ही यह भी समझना चाहिए कि प्रत्येक पदार्थ न तो विशुद्ध जीवके होता है और न विशुद्ध पुद्गलके होता है। अर्थात् इनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव नहीं होता। तो जीवमें ये ९ अवस्थायें नहीं आ सकतीं और पुद्गलमें भी ९ अवस्थायें नहीं आ सकतीं। यहाँ एक बातपर विचार करना है कि जीवकी ९ अवस्थायें तो विदित हो गयीं कि एक उस शुद्ध जीवमें से एक व्यक्तिरूपसे जीवको तोड़कर कल्पनामें लाता

सो तो जीव है और जो वहाँ रागद्वेषादिक विभाव हैं उन्हें तन्मयरूपसे निरखा अथवा उन विभावोंको देखा तो वह अजीव है और फिर इन दो स्थितियोंके संयोग वियोग सम्बन्ध असम्बन्धकी दृष्टियाँ लगाकर ये आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा मोक्ष भी बन जाते हैं और उन्हीं की विशेषता पुण्य और पाप है। यों जीवके ६ पदार्थ हैं, यह तो बन गया, किन्तु पुद्गलमें ये ६ विशेष कैसे घटित होंगे ?

**पुद्गलकी ६ अवस्थायें**—पुद्गलमें अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप ये २८ बातें तो आसानीसे घटित हो सकती हैं। केवल विचारणीय बात जीवकी रही। जीव भी पुद्गलकी अवस्था है—इसका अर्थ क्या है ? इसका अर्थ इस समझमें कुछ अपना स्वरूप रख सकता है अथवा उसके सम्बन्धसे एक ऐसी कल्पना है कि अजीव जो पुद्गल है वह तो है विस्रसोपचयरूप कार्माणवर्गणा वह अजीव पुद्गल है इस प्रकारमें, क्योंकि वहाँ कर्ममें कार्माण स्कंधों में इन तत्त्वोंको घटित करना चाहिए। अन्य जो बहिर्भूत पुद्गल हैं उनमें ये बातें घटित न होंगी। तो जो कार्माण स्कंध है, विस्रसोपचय रूप है, कर्मपनेको प्राप्त नहीं है वह तो हुआ अजीव और उन कार्माण वर्गणाओंका कर्मत्वरूप परिणमन बन जाय अर्थात् वह कर्मरूप परिणत हो जाय, उनमें कोई स्थिति अनुभाग आ जाय, जिसे लोक रुद्धिमें कहते हैं जान आ गई। लोग कहते ही हैं कि इस चौकीका जीवन खतम हो गया, इस मकानका जीवन समाप्त हो गया, न रहा, तो उसमें जो प्रभाव है, एक नई स्थिति है और जिसे अधिक क्या कहें कि जो जीवके रागादिक भावोंमें कारण बन जाते हैं और जिनके रागद्वेषादिक नाम भी रख दिए गए हैं, प्रकृतियोंके नाम वे ही तो हैं करीब करीब जैसे कि जीवके विभावोंके नाम होते हैं। तो यों जब इस तरह नाम भी रख दिया गया तो यह कल्पनामें आता है कि अब यह विस्रसोपचय रूप पुद्गल कर्ममें यह जीवन पड़ा है जिससे कि उनकी कर्मसंज्ञा हुई है यही पुद्गलका जीवन है। अब इस तरहकी बात लगाकर देखते जावो, अजीवमें जीवका आना आस्रव है, अजीवमें जीवका बंधना बंध है, अजीवमें जीवका रुक जाना कर्मत्वका रुक जाना सो संवर है। अजीवमें से उस स्थिति अनुभागका भङ्गना सो निर्जरा है और अजीवका जीवन मिट जाना अकर्मरूप रह जाना सो मोक्ष है।

**शुद्धता व अशुद्धताका अर्थ**—यहाँ शुद्धता और अशुद्धताका अर्थ मुख्यतया विचारों, इनका विकार और निर्विकारसे अर्थ नहीं लेना है, किन्तु पदार्थको अपने एकत्वमें निरखना सो तो उसकी शुद्धताको निरखना है। पदार्थ है और वह अपने सत्त्वके कारण परकी अपेक्षा न रखकर अपने आपके उत्पादव्ययध्रौव्यमयी सत्तासे अनुस्यूत होकर भी अपनेमें जो एक शाश्वत रूप रख रहा है वह शाश्वत स्वभाव है शुद्धता और उसको कल्पनामें भी जब लाइये, जिसके सम्बंधमें इतनी भी बात उठाना 'यह है वह'। तो उसकी लो अशुद्धता कर दी गई,

भेद कर दिया गया। तो इस तरह भेदकी पद्धति चाहे खण्ड प्रतिभासरूपमें की जाय अथवा पर-उपाधि बनाकर की जाय या विकारभाव करके बतायी जाय, वे सब अशुद्धतामें कहलाती हैं। केवल्य न रह जानेका नाम है अशुद्धता। जहाँ केवलका भान नहीं है, किन्तु उसमें कुछ अन्य भावका भी भाव है उसे कहते हैं अशुद्धता। तो यों जो जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सम्बर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप आदिक ६ पदार्थ हैं, ये जीवके विशेष हैं, जीवकी अशुद्धता है। मोक्ष भी उस जीवकी अशुद्धता है। अशुद्धताका अर्थ विकार न लेना, किन्तु वह जो विभक्त और एकत्वगत जीवतत्त्व है, जिस जीवतत्त्वको निर्विकल्प कहा गया है उस ही जीवके सम्बंध में इस प्रकारका जो परिचय किया है कि अब यह जीव निर्विकार हो गया, विकार न रहा, तो क्या यह भूतार्थतासे बताया गया ?

**भूतार्थके आश्रयणमें सम्यक्त्वाविभूति**—अध्यात्म ग्रन्थोंमें वर्णन आता है कि भूतार्थ का आश्रय करने वाला सम्यग्दृष्टि होता है। उसका अर्थ क्या है ? भूतार्थका अर्थ है शाश्वत एकत्वस्वरूप, उसका आश्रय करने वाला सम्यग्दृष्टि होता है। मोक्ष तो पर्याय है। वह कोई शुद्ध शाश्वत द्रव्य नहीं है। पर्याय होनेसे वह भी अभूतार्थ है। अभूतार्थका अर्थ भूठ नहीं, बुरा नहीं, अशुद्ध नहीं, किन्तु अभूतार्थका अर्थ है कि जो शाश्वत शुद्ध एकत्व नहीं है वह है अभूतार्थ और जो शाश्वत शुद्ध एक है वह है भूतार्थ। तब ऐसा विश्लेषण करनेपर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि केवलका, भूतार्थका आश्रय करने वाला सम्यग्दृष्टि होता है। सम्यक्त्वकी निष्पत्तिमें आश्रय किसका लिया जाना है, यह बात इस वाक्यमें बतायी गई है। मोक्ष है वह असत्य नहीं और इसी तरह आस्रव, बन्ध आदि सब हैं यह भी भूठ नहीं। किन्तु ये भूतार्थ नहीं, अभूतार्थ हैं। अभूतार्थका अर्थ है कि जो शुद्ध एकत्व है वह नहीं है। वह शुद्ध तत्त्व तो है भूतार्थ और उसके भेद करके, उसकी विशेषतायें जितनी बतायी जाती हैं इन नामोंमें, वे भूठ नहीं हैं, वे विशेष पदार्थ सत्य हैं, पर यह विशेष वह एकत्व नहीं है कि जो वस्तुके साथ अनादि अनन्त है। जो वस्तुके साथ अनादि अनन्त है उसीको कहते हैं भूत। ऐसे अर्थको कहते हैं भूतार्थ। भू धातुका अर्थ होना नहीं है, किन्तु उसका अर्थ है सत्ता। भू सत्तायां, भू का अर्थ होना है यह रूढ़िमें आया है, और ठीक आया है क्योंकि भू का अर्थ बना सत्ता और सत्ताका अर्थ बना 'होना'। तो भूतार्थका अर्थ है वस्तुमें सहज शुद्ध अनादि अनन्त शाश्वत स्वयं निरपेक्ष होकर जो है उसको भूतार्थ कहते हैं। अब ऐसा जो न हो वह है सब अभूतार्थ। तो इस तरह ये ६ विशेष सब अभूतार्थ हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सम्बर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप—ये ६ पदार्थ अभूतार्थ हैं और वह शुद्ध जो जीवत्व है, शाश्वत स्वभाव है वह है भूतार्थ। अभूतार्थका अर्थ "भूठ" नहीं है किन्तु जो सहज स्वभाव नहीं है उसको कहते हैं अभूतार्थ और जो सहज स्वभाव है उसको कहते हैं भूतार्थ। तभी यह बताया है कि व्यवहार

अभूतार्थ है, निश्चय भूतार्थ है ।

भूतार्थका आश्रय करने वालेकी दृष्टि—भूतार्थ व अभूतार्थके अर्थको बताने वाली समयसार गाथाका जयसेनाचार्यने यह भी अर्थ किया है कि व्यवहार अभूतार्थ है और भूतार्थ है । व्यवहार भूठ नहीं हुआ करता । जो उपचरित कल्पनायें हैं उनकी बात तो अलग है, जैसे घन मेरा है, मकान मेरा है, देह मेरा है आदिक ये सब उपचरित कल्पनायें भ्रम हैं । इस व्यवहारकी तो चर्चा नहीं करना है, किन्तु यहाँ तो इस व्यवहारको भी अभूतार्थ कहा जा रहा है कि जो जीवके खास विशेष हैं—सम्बर, निर्जरा, मोक्ष आदिक ये जीवके कल्याणरूप हैं, किन्तु ये उस एक जीवत्वके विशेष हैं, भेद हैं, अवस्थायें हैं, पर्यायें हैं, और पर्यायपर दृष्टि रखनेसे, उसका आलम्बन करनेसे पर्यायका ही एक चिन्तन उपयोग रखनेसे वहाँ बुद्धिका श्रम ही करना पड़ेगा, भटकना होगा, क्योंकि उसका विषय ही स्वयं अस्थिर है । तो उपयोगमें उस चीजको लाना चाहिए जो चीज स्वयं स्थिर हो । अभी तो यहाँ दो प्रकारकी मार चल रही है, उपयोग भी अस्थिर है और उपयोगमें जिसका हम विषय करते वह भी अस्थिर है । लो अस्थिरने अस्थिरको जाना तब तो यहाँ असाताका रहना प्राकृतिक होगा । कमसे कम पहिले इतना तो करें कि इस अस्थिर उपयोगमें स्थिरको तो विषय बनावें । इसके बाद साक्षात् सम रूपसे उपयोगको स्थिर बना सकते । ऐसे कुछ मुक्तिकी वैज्ञानिक पद्धतिसे भी यह सिद्ध होता है कि हमें उपयोगमें किस विषयको लेना चाहिए जिससे हम शान्तिके मार्गमें बढ़कर कभी शाश्वत शान्ति प्राप्त कर सकेंगे । उस मार्गका प्रारम्भ सम्यग्दर्शन कहा, और उसके लिए बताया है भूतार्थका आश्रय करना । तो इस तरह ये जीवादिक ६ पदार्थ जीवके विशेष हैं और जीवके विशेष होनेके कारण अभूतार्थ हैं । इसको यदि भूतार्थ पद्धतिसे निरखा जायगा तो ये भूतार्थसे जाने गए ६ पदार्थ सम्यक्त्वके कारण होते हैं । जिसको समयसारमें कहा गया कि भूतार्थसे जाने गए जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सम्बर निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप ये सम्यक्त्व होते हैं । उसकी प्रक्रिया भी बतायी गई है और उस प्रक्रियाका विवरण बताकर अन्तमें निचोड़ भी बताया गया और स्पष्ट घोषणा की कि ६ तत्वोंमें गत होनेपर भी वह एकत्वको छोड़ता नहीं है । इस बातको अब निरख लीजिए कि यह जीव इन ६ पदार्थोंमें गत है । उसकी ये अवस्थायें बन रही हैं । पर इन अवस्थाओंके बनते रहनेपर भी क्या वह एकत्व-स्वरूप, वह मूलस्वरूप छूट गया है ? वह तो यहाँ भी विराजमान हो रहा है । तो अवस्था वर्तमानमें अशुद्ध है, इतनेपर भी ज्ञानमें एक ऐसी कला है कि इस अशुद्धताके बीचमें भी इस अशुद्धतामें से ज्ञानको गुजारकर अशुद्धतामें न अटकाकर उस शुद्ध एकत्वस्वरूपको यह ज्ञान जान सकता है, ऐसी इसकी यदि अप्रतिहत गति न होती तो मुक्तिका मार्ग असम्भव था । किस विधिसे मुक्तिका मार्ग पाया जाता ? तो यहाँ इस प्रसंगमें यह बात रखी गई है कि जो

जीवादिक ६ तत्त्व हैं वे जीव ही तो हैं, जीवसे भिन्न नहीं हैं ।

किन्तु सम्बद्धयोरेव तद्द्वयोरितरेतरम् ।

नैमित्तिकनिमित्ताभ्यां भावा नव पदा अमी ॥१५४॥

**सम्बद्ध जीव पुद्गलमें ही निमित्तनैमित्तिक भावपूर्वक प्रत्येककी नव विशेषतायें—**

इन जीवादिक ६ तत्त्वोंसे जीवके विशेषरूपको भी निरख लिया गया और इसको अजीवके विशेषरूपसे भी निरख लिया, इतने पर भी ऐसा आग्रह न करना कि जीवमें तो ये ६ अवस्थायें पर्यायें जीवमें जीवके कारण स्वतंत्रतया होती हैं और न यह आग्रह करना कि अजीवमें ये ६ अवस्थायें उस अजीवके ही कारण निरपेक्ष होकर होती रहती हैं । जैसे बताया गया है कि पदार्थमें जो भवन शक्ति है, कर्मशक्ति है, इन शक्तियोंके कारण पदार्थमें पदार्थका भवन, पर्याय परिणमन पदार्थमें पदार्थके षट्कारक रूपसे होता रहता है । इस तरह ये ६ पदार्थ निरपेक्ष होकर जीवमें चलें, ऐसा नहीं है । यहां तो इतना निरखने की एक कला है कि हम जीवमें ही देख रहे हैं, हम ६ पदार्थोंको जीवमें ही देख रहे हैं, लेकिन निरपेक्षतया केवलमें ये निष्पन्न नहीं होते हैं, इनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है और उस भावके कारण ये ६ पदार्थ निष्पन्न होते हैं । जैसे एक दर्पण सामने है और पीछेके बहुतेसे पेड़ और लोग उस दर्पणमें प्रतिबिम्बित होते हैं तो हम चाहें तो केवल दर्पणको ही निरख सकते हैं । दर्पणमें ही दर्पणकी सारी बातें बता सकेंगे कि यह दर्पण है, यह ऐसा मैला हो गया है, इसमें छाया आ गई है और पीछे दृष्टि करके देख लिया कि ये लोग खड़े हैं, पेड़ भी खड़े हैं । तो इनको अलग-अलग करके भी निरख सकते हैं । मगर इसके मायने यह नहीं है कि दर्पणमें जो कुछ बात है जो अभी ही प्रतिबिम्बित हुई है, वह सब कुछ पर उपाधि बिना केवल दर्पणमें हो गई हो । इसी प्रकार जीवमें केवल जीवके ही कारण जीवकी ही शक्तिसे निरपेक्ष होकर पर-उपाधि सन्निधान बिना यह बात बन गई हो, ऐसा नहीं है । होता है वह निमित्तनैमित्तिक भावपूर्वक फिर भी प्रत्येक द्रव्य अपने ही चतुष्टयरूप होता है, इसलिए उसकी सारी पर्यायें उसमें निरखी जा सकती हैं । इस तरह ये ६ पदार्थ जीवरूप और पुद्गलरूप यहां कहे गए हैं ।

अर्थान्नवपदीभूय जीवश्चैको विराजते ।

तदात्त्वेपि परं शुद्धस्तद्विशिष्टदशामृते ॥१५५॥

नवपदार्थगत होनेपर जीवके एकत्वकी राजमानता—उक्त कथनका सारांश यह निकला कि जीव ६ पदार्थोंरूप होकर भी वह तो एक ही बिराजमान है और जब ६ पदार्थों के रूप हो रहा है उन विशेषताओंके होने पर भी उस विशिष्ट दशाका उपयोग हटाइये तो वहां ही शुद्ध जीवतत्त्व प्रतीत हो जाता है । यद्यपि यह जीव ६ पदार्थोंरूप होकर ठहरा है

कोई यह चाहे कि ६ पदार्थोंमें से किसी भी पदार्थरूप न रहे और जीव रहे तो यह न हो सकेगा। कैसे होगा? यदि अष्टकर्मोंसे रहित शुद्ध निर्विकार अपने स्वरूपके सहज परम विकासमें भी आया तो मोक्ष पदार्थ कहाँसे हटा दोगे? वह तो मानना ही होगा। तो इन विशेषोंको हटाया नहीं जा सकता। फिर भी इन विशेषोंके बीच रहकर भी वह जीव एक ही विराजमान है। अब यहाँ मोक्षमें जीव एक है—यह बात भट समझमें आ गई, क्योंकि वह मोक्षपदार्थ-स्वभावके अनुरूप है। जीवका जो सहजस्वरूप है उसके अनुकूल विकास है अतः उस पदार्थमें वह एक जीव विराजमान है। यह जल्दी विदित हो जाता है, किन्तु इस ही पद्धतिसे आस्रव बंध आदिक पदार्थोंके बीचमें भी वह जीव एक विराजमान है। यहाँ थोड़ा समझना कठिन पड़ता है क्योंकि ये अवस्थायें जीवके स्वभावके विपरीत चल रही हैं, लेकिन विपरीत अवस्था हो या अनुरूप अवस्था हो तो मूलमें एक ही है ना और वह है अपने सत्त्व के कारण अपने सहज प्राणमय चिदात्मक तो यहाँ यह बताया जा रहा है कि यद्यपि जीव ६ पदार्थरूप होकर ठहरा है किसी भी पदार्थ रूप रहता हुआ फिर भी वहाँ विशिष्ट दशा का ध्यान छोड़ दीजिए और उस एक जीवको प्रतीतिमें ले सकते हैं। जहाँ ये आँखें खोलकर निरखिये तो शरीरसे अलग कोई जीव प्रतिभासमें नहीं आ पाता और इन्द्रियको संयत कर दीजिए, शरीरका ख्याल छोड़ दीजिए, अपनी अन्तःदृष्टि करके निरखिये तो आपको वही जीव जीव ही नजर आयगा, शरीर न नजर आयगा। उसका तो ख्याल भी न रहेगा। तो दृष्टि जिस ओर दी जायगी वही विषय दृष्टिमें रहता है। तो जीव यद्यपि ६ पदार्थोंरूप हो रहा है, पर उन पदार्थोंपर, उन विशेषोंपर दृष्टि न दें, उनको छोड़ दें उपयोगमें, दशा न छूटेगी कभी, न कोई विशेष रहेगा। विशेष बिना कहाँ विराजेगा, लेकिन उस विशेषको दृष्टि में न लें तो ६ पदार्थोंमें गत होकर भी वहाँ तो एक शुद्ध जीव तत्त्व ही विराजमान है।

नासंभवं भवेदेतत् तद्विधेरुपलब्धितः ।

सोपरक्तेरभूतार्थात् सिद्धं न्यायाददर्शनम् ॥१५६॥

नवतत्त्वगत होनेपर भी दृष्टिबलसे जीवके एकत्वकी उपलब्धि और अभूतार्थ सोपरा-  
गताके कारण जीवके एकत्वका अदर्शन—उक्त श्लोकमें यह बात कही गई है कि जीव ६  
पदार्थोंरूप है याने अशुद्ध है। यहाँ अशुद्धका अर्थ है उस एकत्वरूपसे हटकर विशेषरूपमें परख  
वरना। तो ऐसी अशुद्धताके भीतर शुद्ध जीवका प्रतिभास होता है, यह बात ऊपर श्लोकमें  
कही गई है, उसीको यहाँ पुष्ट कर रहे हैं। यह कथन असिद्ध नहीं है, किन्तु अनेक प्रकारसे  
सिद्ध है, उसके सिद्ध करनेकी विधि पायी जा रही है। युक्तिसे अनुभवसे और अपने आपकी  
अन्तर्दृष्टिसे वह एक जीवत्व विदित हो जाता है। इसीको समयसारमें प्रधानतया कहा गया है  
और जो ऐसे समयसाररूपको जान लेता है उसका संसारसंकट दूर हो जाता है। अपने



आपको पुरुष जिस किसी भी स्थितिमें पहुंचाता है, वहाँ ही कुछ न कुछ कमी अथवा हीनताका वह अनुभव करता है। यह है मनुष्यकी आदत। करोड़पति भी हो गया तो वहाँपर भी अपने को हम हीन हैं, हमारे पास तो कुछ नहीं है, हमारी स्थिति अभी ठीक नहीं है आदि रूप यह अपनेको निरखता है। इसी उधेड़-बुनमें रहता हुआ यह अपनेको शान्त, सुखी, सम्पन्न अनुभव नहीं कर पाता। यद्यपि ऐसा भी अनुभव करना तो न चाहिए कि मैं ठीक हो गया हूँ मगर वह दूसरी दृष्टि रखकर न करना चाहिए। मेरेमें अभी पूर्ण विकास नहीं हुआ, अभी मेरा शुद्ध स्वरूप प्रकट नहीं हुआ इस कारण वर्तमान स्थितिमें असंतोष करें लेकिन यह दृष्टि उसे कहाँ मिली? वह तो बाहरी समागम और पर्यायोसे ही यह निर्णय किए हुए है कि अभी हम ठीक नहीं बन पा रहे हैं। तो ठीक बनने चले व्यवहारमें, बताओ वे कहाँसे ठीक बनेंगे? आज रिटायर हैं, पेन्शन मिलती हैं, गुजारेके लायक तीन-चारसौ रुपया माहवार घर बैठे मिलते हैं। और चाहिए क्या? परंतु अपनेको दीन हीन अनुभव किया जा रहा है। चित्तमें यह बात बनी रहती है कि मुझे तो अभी यह काम करनेको पड़ा है, यह करना है आदि। पर हे आत्मन्! कितने दुर्लभ मानवजीवनको तूने पाया है? निगोदसे निकला, स्थावरसे निकला, त्रस पर्यायोसे निकला, श्रेष्ठ मानव-जीवन पाया। यहाँ भी उत्तम जाति, कुल, देश आदिक मिल गए। मन भी श्रेष्ठ मिल गया, बोल अब तूझे और क्या चाहिये? अरे इन दिखने वाले मायामयी पर-पदार्थोंमें रागबुद्धि करके तू व्यर्थ ही उनके पीछे हैरान हो रहा है और अपने जीवनके दुर्लभ क्षणोंको व्यर्थ ही गंवाये जा रहा है। उन परपदार्थोंके सुधार बिगाड़की उधेड़बुनमें रहता हुआ, अनेक प्रकारकी हानि वृद्धिवाी घटनाओंका दुःख सहता हुआ अपने जीवनको बरबाद किए जा रहा है। अरे इन परपदार्थोंके पीछे दौड़ लगानेसे तो तेरा भविष्य ही बिगड़ रहा है। अंतमें पछतावा ही हाथ लगेगा, सर्वत्र तू अनादरका ही पात्र बना रहेगा। आज हम आपको ऐसा सुयोग मिल गया है, इन बाहरी भ्रंशोंसे अलग रहनेका मौका भी मिल गया है, पर-पदार्थोंके फंसावसे भी दूर हो गए हैं, श्रेष्ठ मन भी मिल गया है, तत्त्वचिन्तनके लिए चित्त चाहता है, उस तत्त्वकी खबर भी पड़ी है, तत्त्वके उपदेश भी सही प्राप्त हो रहे हैं, इतना सब कुछ होनेपर भी हम अपनेको निरापद मार्गमें न लायें और इस निरापद मार्गमें ठहरनेका साहस न बनायें तब फिर वह कौनसा अवसर आयगा जहाँ शाक्तिका मार्ग अपना सकेंगे? सब कुछ कर लेना चाहिए इस स्थितिमें रहकर जो कि इस आत्माके लिए कल्याणरूप है। क्या कर लेना चाहिए? सब कुछ। कुछ भी न करना—यही सब कुछ करना कहलाता है। अन्यथा बाहरी पदार्थोंमें कुछ-कुछ करनेका परिणाम रखकर न वहाँ कुछ बनता है और न यहाँ कुछ बनता है। केवल एक विडम्बना मात्र है।

शुद्ध अन्तस्तत्त्वके ज्ञानके सत्य पौरुषका स्मरण—भैया! अब तो ऐसा तत्त्वज्ञान

चाहिए कि जिस तत्त्वज्ञानमें कृतकृत्यताका अनुभव हो । मैंने करने योग्य सब कुछ कर लिया, मेरेको अब कुछ करनेको नहीं पड़ा है, यह अनुभूति आनी चाहिए और इस सब अनुभूतिका उपाय यह है कि अपने आपमें अनादि अनन्त अहेतुक विराजमान उस शुद्ध एकत्वका परिचय मिले, उस ही की बात यहाँ चल रही है । इन ६ पदार्थोंके होनेपर भी, इन विशेषोंके रहनेपर भी यहाँ शुद्धताका परिचय कर ले यह बात असम्भव नहीं है, उसकी विधि उपलब्ध है, लेकिन उपराग लगा है ऐसी कुछ एकत्वपर दृष्टि नहीं जम पाती । भीतरका संस्कार लगा है ऐसा कि जिससे हम उन वस्तुओंरूपमें तो भले प्रकार निरख रहे हैं और इसी कारण हम उस एकत्वका दर्शन नहीं कर पाते । तो उपाधिका सम्बंध होनेसे जो कि अभूतार्थ है इस शुद्धताका, इस एक चित्स्वभावका प्रतिभास नहीं होता । इस प्रकरणमें इन सब विशेषोंके लिए अभूतार्थ शब्द दिया गया है । असत्य है, भूठ है, है ही नहीं है, केवल इन्द्रजालकी तरह मायारूप दिख रहा है ऐसी बात नहीं है, वे सब विशेष हैं, लेकिन वे अभूतार्थ हैं । जीवका अनादि अनन्त अहेतुक सहज सत्त्व नहीं है । जो अनादि अनन्त अहेतुक सहज सत्त्व नहीं है । जो अनादि अनन्त अहेतुक सहज हो उसे कहते हैं भूतार्थ । तो ऐसा भूतार्थ तो वह एक शुद्ध जीवत्व है जिसका कि आश्रय करनेसे सम्यक्त्वकी निष्पत्ति होती है ।

सन्त्यनेकेत्र दृष्टान्ता हेमपद्मजलाऽनलाः ।

आदर्शस्फटिकाश्मानौ बोधवारिधिसंन्धवाः ॥१५७॥

अशुद्धताके होनेपर भी शुद्धत्वके परिचयके लिये अनेक दृष्टान्तोंका निर्देशन—अशुद्धता के होनेपर भी वहाँ अन्तःशुद्धताका ज्ञान होता है, इस बातकी सिद्धिके लिए दृष्टान्त भी अनेक मिल जायेंगे । यहाँ कुछ दृष्टान्तोंकी जिक्र की जायगी । वे दृष्टान्त यही हैं—सोना, कमल, जल, अग्नि, दर्पण, स्फटिक, पाषाण, ज्ञान, समुद्र और नमक, इतने दृष्टान्तोंमें यह सिद्ध किया जायगा कि देखो अशुद्ध अवस्था है लेकिन इस अशुद्धमें भी यदि मूल शुद्ध एकत्वका परिचय हो रहा है जाना जा रहा है, इस प्रकार यहाँ बताये जाने वाले ६ दृष्टान्तोंमें से सर्वप्रथम स्वर्ण का ही दृष्टान्त यहाँ कहा जा रहा है ।

एकं हेम यथानेकवर्णं स्यात्परयोगारः ।

तमसन्तमिवोपेक्ष्य पश्य तद्धेम केवलम् ॥१५८॥

परयोगसे अनेक वर्ण वाले सुवर्णमें भी शुद्ध स्वर्णत्वके दर्शनका दृष्टान्त—एक स्वर्ण परपदार्थके सम्बंधसे अनेक वर्ण वाला हो जाता है । स्वर्ण जब मिट्टीमें मिला है तो अन्यरूप है, अगर मिट्टी घुलकर साफ हो गई तो वह अन्य रूप है, उसमें अगर ताँबा मिला है तो अन्य रूप है । उसे अगर अग्निमें तपाकर केवल स्वर्ण निकाल लिया गया तो वह अन्यरूप है । जब किसी भी अन्य पदार्थोंका सम्बंध उस स्वर्णमें न मिला हो तो वह शुद्ध स्वर्ण, केवल स्वर्ण

कहलाता है। जैसे दूध और पानी परस्परमें मिले हुए हैं, आधा सेर दूध हो और आधा सेर पानी हो, तो ऐसी स्थितिमें वे साफ अलग-अलग तो नहीं प्रतीत होते, लेकिन इसके जो पारखी इन्सपेक्टर लोग हैं वे यंत्रादिकके द्वारा वहाँपर केवल दूधको निरख लेते हैं—अरे इसमें तो आधा सेर ही दूध है और आधा सेर पानी है। और की तो बात जाने दो—यह तो विद्यमानकी बात कही जा रही है, लेकिन दूधमें घी विद्यमान तो नहीं है, वह तो दूध पर्याय है, किन्तु उसमें कितना घी निकल सकता है, और जो प्रकट रूपमें घी बनेगा ऐसे अणु भी यहाँ भरे पड़े हुए हैं, उस दूधमें भी पारखी लोग निरख करके यह बता देते हैं कि इसमें तो एक छटांक घी है, इसमें १। छटांक घी है। जब इतनी सूक्ष्म परख कर सकते हैं तो उस मिले हुएमें ताँबा, पीतल, राँगा, मिट्टी आदि मिली हुई है, ऐसे उस सोनेके पारखी लोग केवल स्वर्णत्वको निरख लें इसमें क्या आश्चर्य और यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है—पारखी लोग स्वर्णको कसौटीपर कसते हैं और कसकर उस स्वर्णको भी न देखें किन्तु उस कसेको देखें, वहाँ जो कुछ चिह्न बना दिया है घिस करके उस ही चिह्नको देखकर बता देते हैं कि इसमें तो १२ आना या इतना सोना है। इस एक तोला सोनामें तो इतने आना ही सोना है। तो पारखी लोग ऐसी परख कर लेते हैं कि उस अशुद्धक अन्दर भी शुद्धको निरख लेते हैं। तब यहाँ भी यह समझिये कि ६ विशेषोंमें यह जीव पदार्थ है, पर ६ विशेषोंमें होकर भी यहाँ ही इसीके अन्दर जो विवेकी ज्ञानी लोग हैं वे उस शुद्ध स्वर्णको निरख लेते हैं।

न चाशंक्यं सतस्तस्य स्यादुपेक्षा कथं जवात् ।

सितं कुतः प्रमाणाद्वा तत्सत्त्वं न कुतोपि वा ॥१५६॥

नव पदार्थोंके ग्राह्यत्व व अग्राह्यत्वके विषयमें आशङ्काके अनौचित्यका संकेत— इस प्रसंगमें ऐसी आशंका न करनी चाहिए कि जब दूसरा मिला हुआ पदार्थ है तो उसकी शीघ्र ही कैसे उपेक्षा की जा सकती है? और उस पदार्थमें दूसरा उपाधिका सर्व है अथवा नहीं है और है तो किस प्रमाणसे है अथवा किस प्रमाणसे नहीं है, क्या ऐसी किसी भी प्रकारकी शंकायें न करना चाहिए? इस श्लोकमें ग्रन्थकारने शंकाकारवी उन शंकाओंका स्मरण कराया है जो अभी १४३वें श्लोकमें या उसके प्रसंगमें आगे पीछे शंकाकारने जो शंकायें रखी थीं। यहाँ यह बताया जा रहा कि इन ६ पदार्थोंके बीच रहकर भी अन्तःमें शुद्ध जीवत्वका परिचय हो सकता है? तो ऐसी स्थितिमें दो बातोंकी भूलक आती है—एक तो यह कि इन ६ पदार्थोंकी उपेक्षा कर दी गई, और की ही गई। जब उस एकत्वको निरखने चलेंगे तो इस विशेषकी अपेक्षा करनी ही होगी, और यों ही ढीले-ढाले रूपसे भी नहीं, किन्तु वे हैं ही नहीं ऐसी बुद्धि जमाकर उपेक्षा करनी होगी तब उस एकत्वका परिचय मिलता है। तो यहाँ यह बताया जा रहा है कि ऐसी शंका न करें कि वह विशेष है तो ऐसे वेगसे पूरे फोर्सके साथ

अपनी उपेक्षा कैसे कर दी गई है और साथ-साथ यह भी शङ्का न करना चाहिए कि तब तो मालूम होता है कि उसका सत्त्व ही नहीं है। तभी तो इतनी तीव्र उपेक्षा की गई है। तो उसका सत्त्व है अथवा नहीं है, इस प्रकारकी भी शङ्का न करें। उपाधि है, उपराग है, उसका विशेष है, ऐसे ही इस परिचयको करानेके लिए इस श्लोकमें उन शङ्काओंका स्मरण कराया गया है। देखिये विशेष भी है और विशेषके अंदर वह एकत्व भी है, जो एकत्व है सो विशेष नहीं हो गया, जो विशेष है सो एकत्व नहीं हो गया। इतना उनमें विरोध है स्वरूपसे लेकिन फिर भी अविरोध रूपसे रह ही रहे हैं। एकत्व कहीं अन्य जगह हो और यह विशेष कहीं अन्य आधारमें हो, ऐसा नहीं है। दोनों एक साथ रहकर भी वहाँ जो जिसकी दृष्टि करेगा उसको वह तत्त्व मिल जायगा, जो विशेषकी दृष्टि रखेगा उसको विशेष उपयोगमें प्राप्त होगा और जो उस एकत्वपर दृष्टि रखेगा उसको वह एकत्व उपयोगमें प्राप्त होगा। तो यों विशेषों में एकत्वका दर्शन जो करे उसका वह परम पौरुष है, और जो इन विशेषोंपर ही दृष्टि रखे तो विशेषोंमें और विशेष भी बढ़े और बढ़-बढ़ करके तो यह हालत बनायी है कि संसारी हैं, जन्ममरण होता है, संकट सहते हैं। अब कुछ तत्त्वज्ञान बलसे ऐसा पौरुष कीजिये कि इन विशेषोंमें एकत्वका दर्शन हो।

नानादेयं हि तद्धेम सोपरक्तेरुपाधिवत् ।

तत्त्यागे सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपाततः ॥१६०॥

उपाधिमान् स्वर्णको अनादेय माननेपर सर्वशून्यतादिदोष आनेकी तरह नव पदार्थोंको अनादेय माननेपर सर्वशून्यतादि दोषोंका प्रसङ्ग—उपरक्ति सहित होनेसे उपाधि वाला वह स्वर्ण अनादेय नहीं हो जाता है। शंकाकारने अपनी शंका यह दी थी कि उपरक्ति यदि है तो उसमें अनादर क्यों है और उपरक्ति यदि नहीं है तो उसमें अनादर क्या ही होगा? उस सम्बन्ध में यहाँ प्रकाश डाला गया है कि जीव उपरक्ति सहित है और वह उपाधि वाला है, इतनेपर भी ९ पदार्थोंमें रहने वाला जीवपदार्थ व नव पदार्थ अनादेय नहीं है अर्थात् उसका जिक्र न हो, प्रतिपादन न हो, बताया न जाय और असत्य कहा जाय यह बात नहीं है, क्योंकि यदि उपाधिकी वजहसे उन अशुद्धताओंको स्वीकार न किया जाय, उन्हें अनादेय कहा जाय, प्रतिपादन भी न हो, कारण भी पूछा जाय तो सर्व शून्यादिक दोष यहाँ आ पड़ते हैं। जैसे कि स्वर्ण उपाधिविशिष्ट है और उसका ग्रहण न किया जाय, जैसे खानसे जो मिट्टी निकली है उसमें स्वर्ण है मगर वह अशुद्ध है, उसे कोई ग्रहण न करे, माने ही नहीं तो शुद्धता किसमेंसे प्रकट की जायगी, और शुद्ध स्वर्ण कहाँसे प्राप्त होगा? तो अशुद्धतामें ही शुद्धताका प्रतिभास होता है, इस कारण अशुद्धता यह अनादेय नहीं है। उसे वैसा ही समझना चाहिये कि जो जिस स्वरूपमें है, जिस दंगमें है, यहाँ मूल दृष्टि शुद्ध अशुद्धपर कोजिए। जीव अपने एकत्व-

स्वरूपमें है। जैसे वह अनादिअनन्त अहेतुक है वह तो है शुद्ध जीव और उसमें ख्याल लगा कर भेद करके अथवा उपाधिके सम्बंधसे जो उसमें भेद डाले गये हैं आस्रव आदिक वे सब अशुद्ध जीव कहलाते हैं। ऐसी जो अशुद्धता है अर्थात् सामान्य जीवकी जो विशेषतायें हैं उनको, विशेषोंको न माना जाय तो सामान्य जीव तक भी कोई पहुंच कैसे सकेगा ?

न परीक्षाक्षमं चैतच्छुद्धं शुद्धं यदा तदा ।

शुद्धस्यानुपलब्धौ स्यात्लब्धिहेतोरदर्शनम् ॥१६१॥

अब शंकाकारके १४४वें श्लोकमें बताया गई शंकाका समाधान इस गाथामें मिल रहा है। यह भी कहना परीक्षाके योग्य नहीं है कि जीव जब शुद्ध है तब शुद्ध ही है। शंकाकार का यह आशय था कि जो शुद्ध है वह शुद्ध ही है, और जो अशुद्ध है वह अशुद्ध ही है, सो अशुद्धता मान लेनेपर भी उस अशुद्धताका कुछ नहीं उठता है, क्योंकि नय तो एक ही है। शुद्धनय और शुद्धनयका ही नयोंमें अधिकार है इसलिए वहाँ शुद्ध ही ज्ञात होगा। अशुद्धका प्रतिपादन करना व्यर्थकी बकवाद है। ऐसी ही शंकाका समाधान इस श्लोकमें मिल रहा है। यह बात न समझ लेनी चाहिए कि जब जीव शुद्ध है तब शुद्ध ही है, अशुद्धता वहाँ है ही नहीं, जो अशुद्ध होगा वह कोई अलग ही चीज है। देखिये यहाँ शुद्धका अर्थ सहज सद्भूत आत्मद्रव्यसे है। वही एक जीव ख्यालसे, भेदसे, उपरागसे उपाधिसम्पर्कसे अशुद्ध कहलाता है। ऐसी अशुद्धता न मानी जाय तो उस शुद्धका भी दर्शन नहीं हो सकता है। अशुद्ध अवस्थाओं से उपयोगको गुजर कर वहाँ ही और अन्तर्दृष्टि लगाकर, भूतार्थपद्धतिकी सारणी बनाकर ही तो उस शुद्ध जीवतत्त्वके परिचयमें पहुंचा जा सकेगा। इस कारण अशुद्धता अग्राह्य है अर्थात् मानने योग्य ही नहीं है, सो भी बात नहीं और यह भी बात नहीं कि जब शुद्ध है जीव तो वह शुद्ध ही है, वहाँ अशुद्धताका क्या सम्पर्क है ? अशुद्ध होगा तो कुछ और होगा। अशुद्धता मान लेनेपर भी शुद्धनय ही आदेय रहेगा। अशुद्ध तो कल्पनामें भी न लाना चाहिए, सो यह बात भी युक्त नहीं है। अशुद्धता है और शुद्धता है, वस्तुमें न शुद्धता है, न अशुद्धता है किन्तु दृष्टियोंसे हम उसकी शुद्धता जानते हैं और अशुद्धता भी समझते हैं।

यदा तद्वर्णमालायां दृश्यते हेम केवलम् ।

न दृश्यते परोपाधिः स्वेष्वं दृष्टेन हेम तत् ॥१६२॥

स्वर्णवर्णमालामें केवल स्वर्ण देखे जानेपर उपाधि दृष्ट न होकर केवल स्वर्णदर्शनकी भांति नव पदार्थोंमें केवल जीवत्व देखे जानेपर विशेष दृष्ट न होकर शुद्ध जीवत्वका दर्शन— अथवा इस अशुद्धता और शुद्धताकी समस्याको यों सुलझा लें। दृष्टान्तमें बता रहे हैं कि जिस समय विकार मिले हुए स्वर्णमें केवल स्वर्णत्व ही देखा जा रहा है तो वहाँपर उपाधि नहीं देखी जा रही। उस सम्बंधमें तो उस दृष्टिके द्वारा रूपना दृष्ट स्वर्ण ही परखा जाता है। जैसे

स्वर्णके पारखी लोग किसी अशुद्धताको हाथमें लेकर देखते ही उसमें तुरन्त यह बुद्धि कर लेते हैं कि इसमें तो १४ आने भर स्वर्ण है, दो आने भर मैल है, तो एक तोलेके स्वर्णपिण्डको लेकर वहाँ १४ आने भर स्वर्णको ही देख रहे हैं और इस दृष्टिमें क्या निरखा गया ? वह शुद्ध सोना । अशुद्ध देखता तो वह एक तोला नाम लेता, पर उस एक तोला वजनमें से १४ आनेभरकी दृष्टि रखना, यह शुद्धताकी सूचना देता है कि उस पारखीकी दृष्टिमें शुद्ध सोना ही आया हुआ है । तो मिले हुए सोनेमें से जब केवल सोनेका ही स्वरूप विचारा जाता है, उसका ही निरीक्षण किया जाता तो वहाँ सोनेका स्वरूप भलक जाता है । यद्यपि वहाँ मल मिला हुआ है, अन्य पदार्थ मिले हुए हैं तो भी वे न की तरह ही हैं, क्योंकि दृष्टिमें ही नहीं लिए गए हैं, ऐसे ही कोई साधक जब अपने आपमें उस शुद्ध जीवत्वका परिज्ञान करता है, वहाँ ही उपयोग लगता है तो सब कुछ होते हुए भी उसके उपयोगमें तो वे कुछ हैं ही नहीं तो उस साधकको उस अवसरमें केवल एक शुद्ध एकत्व ही दृष्टगत हो रहा है, इसीसे वह ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्वका अनुभव कर लेता है । उसे वहाँ न कल्याणका भान है, न समयका भान है, न न शरीरका भान है और न कोई गत और भावी प्रोग्रामोंका भान है । उसकी दृष्टिमें तो मात्र वह एक शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप ही बसा हुआ है । तो जिस किसी स्थानपर हैं, जंगलमें हैं, किसी समय बैठे हैं और आस-पास अनेक वस्तुवें हैं, शरीर भी है, पर किसी भी बातका ध्यान नहीं करता । वह आगे कुछ और प्रवृत्ति भी करेगा, उसका भी विकल्प न करके पहिले वह कुछ शुभ काम भी कर चुका है, उसका भी विकल्प न करके केवल एक शुद्ध चिन्मात्र जीव-तत्व उपयोगमें है और ऐसे ही दृष्टि स्वानुभवके कारण बनती है । तो यहाँ यह बताया गया है कि जीवकी यह विशेष दशा है, फिर भी यदि उस शुद्ध चिन्मात्र स्वरूपकी दृष्टि की जाय तो वह प्रतीत हो सकता है ।

ततः सिद्धं यथा हेम परयोगाद्विना पृथक् ।

सिद्धं तद्वर्णमालायामन्ययोगेपि वस्तुतः ॥१६३॥

प्रक्रियेयं हि संयोज्या सर्वदृष्टान्तभूमिषु ।

साधयार्थस्याविरोधेन साधनालंकरिष्णुषु ॥१६४॥

अशुद्ध होनेपर भी सहज शुद्धताके दर्शनके लिये प्रयुक्त दृष्टान्तके विवेचनका निष्कर्ष—

उक्त स्वर्णके दृष्टान्त सम्बन्धी विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि स्वर्ण परसम्बन्धके बिना पृथक् अपने उस स्वर्णरूप ही है । यद्यपि उसमें अनेक प्रकारकी वर्णमालायें हैं अर्थात् संयोग अशुद्धता और अनेक प्रकारके पलटन हैं तो भी वस्तु अगर निरखी जाय तो वह तो परसम्बन्धके बिना अपने आपके स्वरूपमें सबसे विभक्त वह केवल स्वर्ण ही शोभायमान हो रहा है । स्वर्णके जितने कण हैं, जो शुद्ध कण हैं अर्थात् केवल स्वर्णरूप हैं, ऐसे कणोंमें स्वर्ण है और यों वे

फुटकर फँले हुए, बिखरे हुए सारे पिण्डोंमें स्वर्ण स्वर्णरूपसे सर्वत्र है। कहीं ऐसा नहीं होता कि उन मैलोंको पकड़कर, मैलोंके अणुओंसे स्वर्ण निकाला गया हो। मैलमें मैल है, स्वर्णमें स्वर्ण। चाँदी स्वर्ण मिले हुए हैं, तपाकर उनमेंसे शुद्ध स्वर्ण निकलता है। तो कहीं चाँदीके कणोंसे स्वर्ण नहीं निकला। स्वर्णके कण ज्योंके त्यों वहाँ अवस्थित थे वे ऐसे फँल गए थे कि उनका व्यक्त रूप बिगड़ गया था लेकिन तब भी स्वर्णमें स्वर्ण ही था, चाँदी उपाधिमें स्वर्ण न था। सो यहाँ यह दृष्टिमें आया कि अनेक स्वर्णमालामें भी और उपाधिका सम्बंध होनेपर भी वह स्वर्ण परसे संयोगीसे बिल्कुल पृथक् ही अपने आपमें पाया जा रहा है। तो ऐसे ही सर्व दृष्टान्तोंमें उस केवल वस्तुकी बात समझ लेनी चाहिए कि अन्य उपाधिका सम्बंध होने पर भी वह मूल वस्तु अपने आपमें स्वयं ही विराजमान रहती है। तो जिस प्रकार यहां स्वर्ण का दृष्टान्त दिया और स्वर्णमें इन अनेक प्रक्रियाओंको सिद्ध किया गया, शंकाकारकी अनेक शंकाओंका समाधान दिया, ऐसी ही प्रक्रिया सर्व दृष्टान्तोंमें लगा लेनी चाहिए और समझना चाहिए कि वे सभी दृष्टान्त साध्य अर्थके साथ अविरोध रखनेके कारण सब भूषणस्वरूप हैं। सभी दृष्टान्तोंसे साध्य अर्थकी पुष्टि होती है। साध्य अर्थ मूलमें यही है कि ६ पदार्थोंमें आकर भी यह जीव अपनी शुद्धताको, एकताको नहीं छोड़ता है।

तोयमग्नं यथा पद्मपत्रमत्र तथा न तत् ।

तदस्पृश्यस्वभावत्वादर्थतो नास्ति पत्रतः ॥१६५॥

जलमग्न कमलपत्रकी भाँति जीवकी उपाधिसे भिन्नता—अब इस श्लोकमें दूसरा दृष्टान्त कमलका दिया गया है। जैसे कमल पानीमें मग्न है, भले ही मग्न है अर्थात् जलमें डूबा हुआ है तो भी उस कमलपत्रको देखा जाय, उस कमलपत्रके स्वरूपका ध्यान किया जाय तो वह कमलपत्र पानीमें नहीं है। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो पानीमें पानी है और पत्ता में पत्ता है। यह दृष्टान्त सभी पदार्थोंमें लगा सकते, किन्तु एक व्यावहारिक विशेषताके कारण कमलपत्रका दृष्टान्त दिया है, और पत्तोंमें पानी चिपक भी जाता, ठहर भी जाता, पर कमलपत्रमें मानो पानीका स्पर्श ही नहीं होता। इस तरहका चिकना पत्र है कि उसमें पानी ऊपर लुढ़कता रहता है, मानो वह पानी उस पत्तेसे अलग ही रहना चाहता है। कितना ही पानीमें भीगा हुआ रहे वह पत्ता, फिर भी ज्योंका त्यों सूखा जैसा रहता है। इस व्यावहारिक विशेषताके कारण कमलपत्रका यहाँ उदाहरण लिया है। कमलपत्र जलमें मग्न है पर वास्तवमें वह कमलपत्र जलमें नहीं है। जलसे भिन्न रहनेका उसमें स्वभाव है। इसी प्रकार दृष्टान्तमें भी घटित कीजिए। जीवात्माका स्वरूप जो है सो ही है, उपाधिमें आया है, पुद्गलके सम्पर्क में है, इतनेपर भी वह पुद्गलसे भिन्न है। इस दृष्टान्तसे अपने आपपर ही घटित कर लीजिए—यह आत्मा मानो इस शरीरमें डूबा है, मग्न है, पड़ा है, शरीरका वपड़ा, यों कह लीजिए कि

जहाँ शरीरके स्कंध हैं वहाँ ही ये जीवप्रदेश हैं । जहाँ ये जीवप्रदेश हैं वहाँ ही ये शरीरके अंग हैं, ऐसे मग्न हो गए मानो राखमें पानी डाल दिया तो वह मग्न हो गया, उससे भी और घनिष्ठ मग्न है । इतनेपर भी जीव पुद्गलसे भिन्न है । देहमें रहकर भी जीव देहरूप नहीं होता, देहसे पृथक् है । यह पृथक्ता जब ज्ञानस्वभावकी प्रधानतासे जीवका स्वरूप निरखते हैं तब विशद रूपसे विदित हो जाती है । वह ज्ञानस्वरूप जीवात्मा किसी जड़ स्कंधोंमें रहे, यह कैसे हो सकता है ? जड़स्कंधोंमें तो जड़स्कंध ही हैं और ज्ञानस्वरूप आत्मामें वह ज्ञानस्वरूप ही है । यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ऐसा निरालम्ब प्रतीत होने लगता है तब ज्ञानमात्रके रूपमें इसका अनुभव किया जाता है । यों समझिये कि जैसे आकाश निरालम्ब है उसी प्रकार यह ज्ञानज्योतिस्वरूप आत्मा भी निरालम्ब है, वह तो शरीरसे पृथक् ही है । यों जैसे जलसे भिन्न कमल है, कमलपत्र है उसी प्रकार देहमें रहता हुआ भी यह जीव इस देहसे निराला है ।

**आत्मोद्धारके प्रयासमें प्राथमिक कर्तव्य—**देहमें रहकर भी देहसे निराले स्वतन्त्र सद्गत इस जीवका यदि उद्धार करना है तो देहकी ममता तो पहिले छोड़नी ही होगी । देहमें ममता होना, उसे अपना मानना, उसकी बड़ी परवाह रखे, उससे अपना मन पोषे और देहके साधनोंमें ही अपनेको मौज मानें, खुश रहा करें ऐसे विकल्प वाले देहसे भिन्न आत्माकी निरख कैसे कर सकेंगे ? जिसको यह देह अन्य देहोंकी भाँति या अन्य काष्ठ आदिक पदार्थोंकी भाँति ऐसा निराला भिन्न नजर आने लगता है उसको ही यह ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व प्रसिद्धिमें आता है, तो जब आत्माके उद्धारके लिए चलिये तो पहिला कदम तो यह है, और देहमें ममता नहीं है यह बात कैसे जानी ? इन्द्रियविजयसे । ऋषि संतोंने आत्म-उद्धारके उपायोंमें सबसे पहिला उपाय इन्द्रियविजय रखा है और बताया है कि जो इन्द्रियविजय नहीं कर सकता उसके कभी भी शुद्धि उत्पन्न नहीं होती । इन्द्रियविजयका अर्थ है इन्द्रियसे उपेक्षा, इन्द्रियके विषयोंसे उपेक्षा, विषयोंके सेवनसे उपेक्षा । मैं बहुत ही कोमल पलंगोंपर सोया करूँ, शरीरको बहुत ही साफ सुहावना रखूँ, अथवा बड़े रसीले स्वादिष्ट भोजन करूँ ऐसी भावना जो बनती है और रसीले भोजन करके अपने आपको बड़ा माननेकी प्रवृत्ति जो रखी है और उससे जो कुछ अपनेको पुण्यवान, महत्त्वशाली अनुभव करनेकी भीतरी वृत्ति बनती है वह तो विष है । ऐसी दृष्टि वालेको देहसे भिन्न आत्मा है—यह कैसे नजर आ सकता है ? इस स्थितिमें कोई अगर देहसे भिन्न आत्माको बताये तो देहसे भिन्नताका परिचय नहीं हो रहा, किन्तु किसी न किसी प्रकारके रागसे लिस होनेका ही वहाँ परिचय है । किसको बताना, क्या समझाना ? लोग जानें, लोग समझें, यों कितने ही प्रकारके रागका सम्पर्क है पर देहसे भिन्न आत्माकी दृष्टिकी बात वहाँ नहीं है । तो दृष्टान्तमें बताया कि जैसे जलमें रहकर भी कमल और कमलपत्र जलसे पृथक् हैं इसी प्रकार उपाधिमें रहकर भी यह आत्मा उपाधिसे पृथक् है ।



सकर्मं यथा वारि वारि पश्य न कर्ममम् ।

दृश्यते तदवस्थायां शुद्धं वारि विपङ्कवत् ॥१६६॥

सपङ्क जलमें पङ्कको न निरखकर जलको ही निरखनेकी भांति नव पदार्थोंमें शुद्ध जीवत्वकी निरख—अशुद्ध पदार्थमें भी पदार्थकी शुद्धताका दर्शन होता है । ६ पदार्थोंमें भी शुद्ध जीवत्वका दर्शन किया जा सकता है । इसकी पुष्टिमें कुछ दृष्टान्त दिये जा रहे हैं, जिनमें यह तीसरा दृष्टान्त है । जैसे जल कर्मसहित है अर्थात् मैला जल कीचड़सहित जल है । उस जलमें भी यदि जलका स्वरूप देखें और कीचड़का स्वरूप न देखें तो वहां उस मिली हुई अवस्थामें भी जलका स्वरूप नजर आयगा, शुद्ध जलका दर्शन होगा । इसी प्रकार यह जीव ६ पदार्थोंमें गत हुआ है । कहीं ख्यालसे हुआ है, कहीं उपाधिके सम्बंधसे हुआ है, किसी भी कारण ये ६ पदार्थोंके भेद बने हैं, फिर भी इन ६ पदार्थोंसे इन उपाधि और सोपरागका ख्याल न करके केवल एक शुद्ध जीवत्वस्वरूपको निरखा जाय तो इन पदार्थोंमें भी शुद्ध जीवत्वका दर्शन होता है । जैसे अभी यहीं इस देहमें बँधे हुए होकर भी हम आप भीतरमें इस उपयोगका ज्ञेय देहको न बनायें और उपयोगमें केवल एक ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व जो आकाशकी भांति निरालम्ब है और जो ज्ञान अपेक्षा व्यापक है अर्थात् केवल उतने प्रदेशमात्र है, इस दृष्टिको न रखा जाय, किन्तु वह ज्ञानमात्र है इस दृष्टिसे यहां भी एक जीवका दर्शन किया जा सकता है और वहां देहादिकका दर्शन न होगा । इसी तरह ६ पदार्थोंमें गत होकर भी उपाधि सोपरागताका दर्शन न करके, ज्ञान न करके केवल शुद्ध जीवत्वका ज्ञान किया जाय तो शुद्ध जीवत्वका वहां दर्शन होता है । यों अशुद्धतामें परप्रयोग होनेपर शुद्ध जीवका परिचय हो जाता है ।

अग्निर्यथा तृणाग्निः स्यादुपचारात्तृणं दहन् ।

नाग्निरस्तृणं तृणं नाग्निरग्निरग्निरस्तृणं तृणम् ॥१६७॥

तृणाग्निमें तृणसे सिन्न अग्निस्वरूपके परिचयकी भांति नव पदार्थोंमें शुद्ध जीवत्व-स्वरूपका परिचय—अब यहां चौथा दृष्टान्त अग्निका दिया जा रहा है । जैसे कोई तृणाग्नि है अर्थात् तृण ईंधन है और उसीमें आग लगी है तो वह तृणाग्नि कहलाती है । उसे तृणाग्नि क्यों कहा कि तृणके सम्बंधसे उस अग्निको तृणाग्नि कहा है, परन्तु वास्तवमें अग्निका स्वरूप यदि देखें तो क्या अग्नित्व तृण उस अग्निरूप है ? अर्थात् अग्नि तो अग्नि ही है, अग्नि तृण नहीं है और तृण अग्नि नहीं है । अग्निके स्वरूपमें अग्नि है, तृणके स्वरूपमें तृण है । इसे यदि और स्पष्ट समझना है तो अग्नि जहां नहीं लगी ऐसे तृणको निरखिये—वह तृण है, और अग्नि जहां लग चुकी वहां वह तृण तो न रहा । वह तो एक अग्नि है, यों भी समझ सकते हैं और जब तृणकी अग्नि व्यापक है, तृणमें उस समयमें भी बुद्धि द्वारा यह जान सकते हैं कि

अग्निका स्वरूप तो अग्नित्व है। गर्मी उष्णता यह अग्निका स्वरूप हुआ करता, न कि तृण-मय बन जाता। और भी गम्भीरतासे निरखें तो अग्निमें जो आकार बना है, तृणमें लगी सो तो तृणके आकार है, काठमें लगी तो काठके आकार है। तो यहाँ यह बतलाओ कि अग्निमें जो इस तरहका आकार बना है वह आकार भी अग्निमें उपचारसे सम्बंधसे है। अग्निमें स्वयं क्या आकार है? अग्नि अग्नि ही है और वह अपनी उष्णता स्वरूपको लिए हुए है। उसमें तृणका सम्बंध है इसलिए तृणाग्नि कहते हैं। सभी दृष्टान्तोंमें शंकाकारके जितने विकल्प हैं उन सब विकल्पोंको घटाया जा सकता है। जैसे उस तृणाग्निमें जो उपाधि लगी है क्या वह उपाधि अग्राह्य है? अगर उपाधि अग्राह्य है तो फिर अग्निका कुछ रूप न बन सकेगा, आदिक सभी विकल्पोंका समाधान प्रत्येक दृष्टान्तमें पाया जाता है। तो जैसे तृणाग्निमें अग्नि तृणसे निराली परख ली जायगी इसी प्रकार ६ पदार्थोंमें जीवको ६ पदार्थोंसे निराला परख लिया जाता है।

प्रतिबिम्बं यथादर्शं सन्निकर्षात्कलापिनः ।

तदात्वे तदवस्थायामपि तत्र कुतः शिखी ॥१६८॥

मयूरप्रतिबिम्बी दर्पणमें दर्पणकी मयूरसे भिन्नताकी भांति नव पदार्थोंमें उनसे जीवत्व की भिन्नता—इस श्लोकमें शुद्धताके दर्शनके प्रसंगमें दर्पणका दृष्टान्त दिया गया है। जैसे दर्पण में मयूरकी छाया पड़ रही है, मयूरके सम्बंधसे या उसके सन्निधानका निमित्त पाकर उस दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ रहा है परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो दर्पणमें छाया पड़कर भी छाया मयूर नहीं है। मयूरका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रभाव सब कुछ मयूर शरीरके स्कंधोंमें ही है। उससे बाहर मयूरका कुछ नहीं गया। तो मयूर तो मयूर ही है और दर्पण दर्पण ही है। उसका निमित्त पाकर यह दर्पण ही स्वयं अपनी स्वच्छतासे चिगकर प्रतिबिम्ब रूपमें आ गया है, ऐसे ही जगतमें सर्वत्र निमित्तनैमित्तिक सम्बंध देखा जा रहा है। तो जैसे मयूरका प्रतिबिम्ब दर्पण में है और मयूरका निमित्त पाकर दर्पण प्रतिबिम्ब रूप परिणाम गया है, इतनेपर भी मयूर पृथक् है और मयूरसे वह दर्पण पृथक् है। इसी तरह पुद्गल द्रव्यके निमित्तसे जीवात्मा विकार रूप परिणामा है अथवा अन्य-अन्य संयोग वियोगोंकी अपेक्षासे ये ६ पदार्थ बने हैं, फिर भी वह जीव तो शुद्ध ही है, अर्थात् वह तो केवल है। अपने सहज स्वरूपमात्र है। इन ६ पदार्थोंमें गत होकर भी जीव जीव न रहा हो और केवल इन विशेषोंरूप ही बन गया हो ऐसा नहीं है। वहाँपर भी इस अशुद्धतामें उस शुद्ध जीवत्वका दर्शन किया जा सकता है।

जपापुष्पोपयोगेन विकारः स्फटिकाश्मति ।

अर्थात्सोपि विकारश्चाऽवास्तववस्तत्र वस्तुतः ॥१६९॥

उपाधिसम्पर्कसे स्फटिक पाषाणमें विकार आनेपर भी विकारकी अपरमार्थताकी

भांति शुद्ध जीवत्वकी अपेक्षासे नव पदार्थोंकी अपरमार्थता—यहाँ स्फटिक पाषाणका दृष्टान्त दिया जा रहा है। जैसे जपापुष्पके सम्बंधसे स्फटिक पाषाणमें विकार आया है, स्फटिक पाषाणके समीप या कुछ बाहर कोई उपाधि रखी है तो जपापुष्प लालरूप परिणम गया है, वह लालिमा स्फटिक पाषाणकी है, जपापुष्पकी नहीं। जैसे दर्पणमें मयूरका प्रतिबिम्ब आ गया तो वह प्रतिबिम्ब दर्पणका है, मयूरका नहीं। मयूर तो निमित्तमात्र है। इसी प्रकार जीवमें जो विकार हुआ है वह विकार जीवके गुणोंका विकृत परिणमन है, कर्मका परिणमन नहीं, उपाधिका परिणमन नहीं। उपाधि तो वहाँ निमित्तमात्र है। तो यों उपाधिके निमित्त से यह जीव अशुद्ध हुआ, विकृत हुआ, तिसपर भी वहाँ जीवकी शुद्धता है, अथवा वह एक सहज स्वरूपमात्र जीव है, ऐसे भेदके साथ प्रतीति हो जाती है। ९ पदार्थोंमें प्राप्त होनेपर भी जीवका जीवत्वस्वरूप शुद्ध है और वह एक जीव है ऐसा विदित हो जाता है। जैसे कोई पर-पदार्थका सन्निधान होनेसे स्फटिक पाषाणमें जो रंग चित्रित हुआ है सो ऐसा नहीं है, उस समय कि वहाँ वह रंग रूप परिणमन न हो। उसका ही परिणमन हो रहा है, इतनेपर भी यह भी साथमें देखिये कि वह परिणमन ऐसा उसके ऊपर लोट रहा है कि निमित्तके अपाय होनेपर वह परिणमन तत्काल दूर हो जाता है। उसमें स्फटिक पाषाणको माननेकी या साफ करनेकी या भीतरसे कोई प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। निमित्तकी निवृत्ति होनेपर वे विकार निवृत्त हो जाते हैं। इतना उसका अन्वयव्यतिरेक निमित्तके साथ जुड़ा हुआ है। इतनेपर भी वह चित्रण, वह लालिमा स्फटिक पाषाणकी है। अब देख लीजिए कि कितना सुगमतया दूर किया जा सकने योग्य और कितना ऊपर लोटा हुआसा वह विकार प्रतीत होता है। किसीको यह भेद न मालूम हो तो वह तो यही निरखेगा कि यह स्फटिक स्वरूपसे ही ऐसा हो रहा है, इसी प्रकार पुद्गल कर्मके निमित्तसे उस उपाधिका सन्निधान पाकर जो आत्मामें रागादिक परिणमन होते हैं वे स्वभावमें प्रवेश नहीं कर पाते। इस कारणसे वे परिणमन स्वभावसे बाहर ही लोट रहे हैं। इतनेपर भी परिणमन तो उस समयमें जीवका चल रहा है। अब इस मर्मको जो जीव समझ नहीं सकता, उसे यों समझना पड़ता ही है कि इस ही रूप में हूँ, यही मेरा सर्वस्व है और जो लोग तत्त्व, तथ्य समझ लेते हैं वे यहाँ इस प्रकार जानते हैं कि यह स्वभावसे बाहरकी बात है और यह परिणमन निमित्तके अपाय होनेपर दूर होता है और इसके लिए हमें पौरुष निमित्तके हटानेका नहीं करना है, किन्तु यहां ही अपनेमें बसकर भेदविज्ञान करके विकारोंसे पृथक् केवल ज्ञानमात्र स्वका अनुभव करना है, इस विधि से ये विकार दूर होंगे। तो जैसे स्फटिक पाषाणमें जपापुष्पका निमित्त पाकर लालिमा आयी है फिर भी स्फटिक पाषाणके स्वरूपको निरखा जाय तो वहाँपर भी उसकी स्वच्छताका दर्शन होता है इसी तरह कर्म उपाधि सम्बंधसे विकार उत्पन्न होते हैं, फिर भी इस अविकार

ज्ञानस्वभावका दर्शन करें तो वह दिख सकता है ।

ज्ञानं स्वयं घटज्ञानं परिच्छिन्दद्यथा घटम् ।

नार्थाज्ज्ञानं घटोयं स्याज्ज्ञानं ज्ञानं घटो घटः ॥१७०॥

घटज्ञानमें घटसे ज्ञानकी भिन्नताकी तरह नव पदार्थोंसे शुद्ध जीवत्वकी विलक्षणता—

अब अशुद्धतामें भी शुद्धता है और दर्शन किया जा सकता है, इसकी पुष्टिमें ज्ञानका दृष्टान्त दिया जा रहा है । जो ज्ञान घट पदार्थका ज्ञान कर रहा है उस ज्ञानको घटज्ञान कहते । तो जैसे घटज्ञान घटको जान रहा है, पर घटको जानता हुआ भी वह ज्ञान घट तो नहीं बन गया । घटका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव घटमें है, उस रूप कहीं यह ज्ञान नहीं बन गया । ज्ञान तो अपने अधिकरणभूत आत्मामें ही रहता हुआ उस प्रकारका परिच्छेदन कर रहा है, जान रहा है । तो घटविषयक जानकारी चलते रहनेपर भी यह ज्ञान ज्ञानरूप ही है और ज्ञानरूप रहकर ही ऐसा जाननेका प्रयत्न कर रहा है, उस घटका कोई सम्बंध नहीं बनाता है, वह तो केवल विषयभूत है । तो जैसे घटज्ञान घटरूप नहीं हो जाता किन्तु घान तो ज्ञान ही रहता और घट घट ही रहता है । यह तो ज्ञानका स्वभाव है कि जिस पदार्थको वह जानता है उस ही पदार्थके आकार वह हो जाता है । इतना होनेपर भी अर्थात् उस घटके आकार हो गया मायने कम्बुग्रीणादिक नीचे कम, पेटमें बहुत, मुखमें कम, इस प्रकारके आकारमें ज्ञान बन गया, अर्थात् इस प्रकारका जानन चल रहा है ऐसे अर्थविकल्पको आकार कहते हैं, तो इस तरह वह घटविषयक परिच्छेदन कर रहा है, फिर भी वह ज्ञान उस पदार्थरूप नहीं परिणामा । वास्तवमें तो ज्ञान ज्ञान ही है और घट घट ही है । इसी प्रकार यह जीव ६ पदार्थगत हो रहा है, विकाररूप बन रहा है, इसमें विकार आये हैं फिर भी स्वभावका परिचय करें तो स्वभाव विकार नहीं बन गया है । यद्यपि विकार परिणामन है और वह विकार आवरण है कि वह स्वभाव आवृत्त हो गया है, उसका विकास नहीं चला, इतनेपर भी स्वभाव विकार नहीं बन गया, स्वभाव स्वभाव ही है, विकार परिणामन हुआ है, ऐसी स्थितिमें भी कोई स्वभावका दर्शन करना चाहे तो स्वभाव वहाँ निरखा जा सकता है । अर्थात् ६ पदार्थोंमें गत होनेपर भी कोई शुद्ध जीवत्वका दर्शन करना चाहे, स्वभावदृष्टिका बल लगाये तो वहाँ शुद्ध जीवत्वका दर्शन किया जा सकता है ।

वारिधिः सोत्तरङ्गोऽपि वायुना प्रेरितो यथा ।

नार्थादैक्यं तदात्वेपि पारावारसमीरयोः ॥१७१॥

वायुप्रेरित सोत्तरङ्ग समुद्र और वायुमें ऐक्यके अभावकी तरह नव पदार्थों और शुद्ध जीवत्वमें ऐक्यका अभाव—यहाँ समुद्रके दृष्टान्तमें बताया जा रहा है कि जैसे वायुका निमित्त पाकर प्रेरित हुआ वह समुद्र ऊँची-ऊँची लहरोंको धारण करता है, ऐसा अन्तरङ्ग सहित होने पर भी अर्थात् ऊँची-ऊँची तरंग वाला होनेपर भी समुद्र तो समुद्र है और वायु वायु है । ये

दोनों एक नहीं बन गए । वायु तो उपाधिरूप है और समुद्र अपने आपमें उस प्रकारका परिणामन कर रहा है । यहाँ यह बात भी समझ लेना चाहिए कि निमित्तका उपादानमें अत्यन्ताभाव होता है, लेकिन निमित्तका उपादानमें हुए उस नैमित्तिक क्रियाके साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बंध होता है । अन्वयव्यतिरेक सम्बंध जाना जाता है कि जिसके अभाव होनेपर जो न हो सके यह हुआ व्यतिरेक सम्बंध, इस ही को विधि रूपमें कहा जाय तो जिसके ही होनेपर जो कार्य हो सके उसे कहते हैं अन्वय सम्बंध । तो निमित्त और नैमित्तिक भावका अन्वयव्यतिरेक सम्बंध है, पर निमित्तका उस उपादानमें अत्यन्ताभाव है, अर्थात् पृथक्भूत पदार्थ ही निमित्त हो पाता है । तो जीवका विकार और कर्म-उपाधि निमित्त इनमें यहाँ यह देखना होगा कि विकार तो जीवका परिणामन है और कर्म उसका निमित्तभूत है । उस विकारके साथ कर्मका अन्वयव्यतिरेक है, पर जीवमें उस उपाधिका अत्यन्ताभाव है । इस तरह उस उपाधिके मेलमें रहनेपर भी उस औपाधिक भावके होनेपर भी कोई सहज स्वरूपकी दृष्टि करे तो वहाँ भी शुद्ध जीवत्वका परिचय कर सकते हैं । जैसे पहिले घानी हवाके चलनेसे समुद्र बड़ी लहरों वाला बन रहा है । वहाँ भी कोई केवल समुद्रके स्वरूपको ही देखे तो वहाँ बोध कर सकता है कि समुद्रमें समुद्र ही है, हवा नहीं है । तो हवाका सम्बंध होनेपर भी हवासे पृथक् वहाँ समुद्र है । यहाँ इस मर्मपर दृष्टि देनी चाहिए कि हवासे प्रेरित होकर भी समुद्रने किया किसे और अनुभवा किसे ? तो समुद्रने किया भी अपने आपको और अनुभवा भी अपने आपको । समुद्रने अनुभव क्या किया ? पर्यायको तन्मयतासे निष्पन्न करना इसीके मायने अनुभव है । चेतन पदार्थोंमें अनुभवकी बात जरा जल्दी समझमें आ जाती है किन्तु अचेतन पदार्थोंमें अनुभवनेकी बात तो शीघ्र नहीं विदित होती कि अचेतनका चेतनसे सम्बंध नहीं है । लेकिन अनुभवनका अर्थ है अनुभवन, अनुसार होना, पदार्थके स्वरूपके अनुसार परिणामन होनेका नाम है अनुभवन । तो जैसे समुद्रका काम और अनुभव समुद्रमें है इसी प्रकार जीवके काम और अनुभव जीवमें है । लेकिन इस काम और अनुभवसे भी निराले शुद्ध जीवत्वके देखनेकी बात यहाँ कही जाती है ।

सर्वतः सैन्धवं खिल्यमथदिकरसं स्वयम् ।

चित्रोपदंशकेषूच्यैर्यज्ञानेकरसं यतः ॥१७२॥

अनेक व्यञ्जनोंमें रहकर भी नमककी एकरसताकी तरह नव पदार्थोंमें रहकर भी शुद्ध जीवत्वकी एकरूपता — ६ पदार्थोंमें रहकर भी यह जीव सहज अपने शुद्ध जीवत्वमें ही रह रहा है, यह बतानेके लिए और साथ ही यह दशनिके लिए कि यह जीवत्व इन ६ पदार्थों रूप में देखा गया है, सो अब ये ६ पदार्थ भी जानने योग्य हैं, ये अग्राह्य नहीं हैं । इतनी बातके समर्थनके लिए ये दृष्टान्तमालायें चल रही हैं, उनमेंसे यह एक अन्तिम दृष्टान्त है । जैसे नमक

नमककी डली सर्व तरहसे एकरसस्वरूप है, उसका स्वाद तो एक नमक रूप ही है, सर्वतः क्षारमय है लेकिन वह नमक जब भिन्न-भिन्न भोजनोंमें पहुंच जाता है तब भिन्न-भिन्न रीतिसे उसका स्वाद आता है। यहाँ भोजनका एक पर्यायवाची शब्द उपदंशक दिया गया है। जब यह नमक अनेक उपदंशकोंमें पहुंच जाता है तब यह एक रस नहीं रहता, किन्तु भिन्न-भिन्न रसों रूपसे स्वाद आता है, फिर भी देखा जाय, सूक्ष्मदृष्टिसे विचारा जाय तो नमक तो क्षार रूप ही है। उन नाना स्वादोंरूप नहीं है। वह तो तिक्त रस ही है। नमकका स्वाद व्यञ्जनमें पहुंचकर वास्तवमें बदलता नहीं है लेकिन जो इस तथ्यसे अपरिचित हैं अथवा व्यञ्जनमें लुब्ध हो रहे हैं, ऐसे पुरुषोंको नमकके उस स्वतंत्र रसका स्वाद ज्ञात ही नहीं होता है। यहाँ उपदंशक शब्द कहा है जिसमें शब्दावलिसे तो अर्थ यह होता—दंसक अर्थात् डसने वाला। जैसे डाँस मच्छर यों नाम भी बोलते ही हैं, अरे यह है उपदंशक। विषले जीवोंकी भाँति सीधा डसता तो नहीं है मगर यह डसने जैसी क्रिया हो रही है इसलिए उपदंशक है। यह ही क्या? पञ्चेन्द्रियके जितने विषय हैं वे सब उपदंशक हैं। तो यहाँ दृष्टान्तमें बताया गया है कि नमक तो है एक रस लेकिन नाना व्यञ्जनोंमें पहुंचनेसे वह भिन्न-भिन्न स्वाद जैसा प्रतीत होता है फिर भी वहाँ नमक तो अपने ही स्वादरूप है, वह बदला नहीं है। इसी प्रकार आत्माके ये ६ पदार्थ बताये गए हैं और इन ६ अवस्थान्नोंरूप प्रतीत हो रहा है, फिर भी आत्मा तो अपने सहज स्वरूपमें वह एक जीवत्वमात्र है। यहाँ ये दोनों ही बातें समझ लेना है कि ६ पदार्थों में रहकर भी शुद्ध जीवत्व अपने ही रूप है। दूसरी बात यह समझ लेना है कि जैसे नमक व्यञ्जनके सम्बंधमें उन ६ व्यञ्जनोंरूपसे ही स्वादा जाता है ऐसे ही यह जीवत्व ६ पदार्थोंमें गत होकर इसीमें से उन रूप परखा जाता है। तब जैसे वह व्यञ्जन अग्राह्य नहीं है ऐसे ही ये ६ पदार्थ अग्राह्य नहीं हैं और जैसे उन व्यञ्जकोंमें नमक अपने ही एक शुद्ध रूप है इसी प्रकार इन ६ पदार्थोंमें भी वह सहज स्वरूप शुद्ध जीवत्वरूप है।

इति दृष्टान्तसनाथेन स्वेष्टं दृष्टेन सिद्धिमत् ।

यत्पदानि नवामूनि वाच्यान्यथादिवश्यतः ॥१७३॥

उक्त अनेक दृष्टान्तों द्वारा शुद्ध जीवत्वकी प्रसिद्धि एवं नव पदार्थोंकी वाच्यताका निर्णय—इस प्रकार अनेक दृष्टान्तोंसे यह सिद्ध हो जाता है अथवा उन दृष्टान्तोंमें देखे गए उस मर्मसे यह सिद्ध हो जाता है, जैसे कि बताया गया था कि ६ पदार्थोंमें गत होकर भी वह शुद्ध जीवत्व परखा जा सकता है और ६ पदार्थ ये अग्राह्य नहीं हैं। इनके जाने बिना उस शुद्ध जीवत्व तक भी पहुंच न हो सकेगी। इस ही बातको सिद्ध करनेके लिए ये ६ दृष्टान्त कहे गए हैं। यहाँ अनेक लोगोंका विवाद था कि ६ पदार्थ कहना चाहिए अथवा नहीं, अथवा शुद्ध आत्माका ही सदा ग्रहण करना चाहिए, ऐसी कुछ धारणा शंकाकारने स्पष्ट

की थी। उस ही के सम्बंधमें इन दृष्टान्तों द्वारा यह बात बता दी है कि ६ पदार्थोंकी आवश्यकता है, ये ग्राह्य हैं, इनको समझना है और इनको समझकर फिर भूतार्थ पद्धति इसके साथ लगा दी जाय तो उस दृष्टिसे फिर ६ पदार्थ दृष्टिमें स्वयं न रहकर एक शुद्ध जीवत्वका दर्शन हो जायगा। बिना ६ पदार्थोंको स्वीकार किए जीवत्वकी प्रतीति न हो सकती थी, इस कारण ये ६ पदार्थ कहना योग्य है।

कैश्चित्तु कल्प्यते मोहाद्वक्तव्यानि पदानि न।

हेयानीति यतस्तेभ्यः शुद्धमन्यत्र सर्वतः ॥१७४॥

तदसत्सर्वतस्त्यागः स्यादसिद्धः प्रमाणतः।

तथा तेभ्योऽतिरिक्तस्य शुद्धस्यानुपलब्धतः ॥१७५॥

नव पदार्थोंसे पृथक् शुद्धकी अनुपलब्धि होनेसे नव पदार्थोंके सर्वथा त्यागकी असिद्धता—मोहनीय कर्मके तीव्र उदयसे जिनको सुध नहीं है वस्तुस्वरूपकी, ऐसे अनेक पुरुषोंने एक कल्पना की कि ये ६ पदार्थ तो कहने ही न चाहियें। ये तो सर्वथा हेय हैं। उपादेय तो केवल एक शुद्ध ही है। यही शंका १४४वें श्लोकमें बतायी गयी थी कि शुद्ध ही एक ग्राह्य है और शुद्धनयका ही अधिकार वस्तुके परिचयमें है तब अशुद्ध कहना योग्य नहीं है, अथवा कह भी दें तो अशुद्ध अशुद्धकी जगह है, उससे यह शुद्ध तो सर्वथा भिन्न है। इस प्रकारकी शंका पहिले रखी गई थी, उस ही को यहाँ दुहरायासा गया है कि कितने ही पुरुष मोहसे ऐसा कहते हैं कि ये ६ पदार्थ न कहना चाहिये। ये तो सर्वथा त्याज्य हैं और ६ पदार्थोंसे यह आत्माका शुद्ध निजरूप भिन्न ही है। इस शंकाके परिहारमें बताया जा रहा है कि ऐसी कल्पना करना युक्त नहीं है, क्योंकि ६ पदार्थोंका सर्वथा त्याग किये जातेकी बात प्रमाणसे असिद्ध है। भला इन ६ पदार्थोंसे भिन्न कहीं शुद्धकी प्राप्ति की जा सकेगी? कहाँ निरखा जायगा? यदि ये ६ पदार्थ अग्राह्य हैं, कहने योग्य ही नहीं, समझने समझानेके प्रसंगमें भी कहने योग्य नहीं, तब इन ६ पदार्थोंके छोड़ देनेपर शुद्ध आत्माकी भी प्रतीति नहीं हो सकती। ये दोनों शब्द सापेक्ष हैं। यों भी परख लीजिए कि अशुद्ध नहीं तो शुद्ध भी नहीं कुछ। तो अशुद्धताके मना करनेपर अग्राह्य करार कर देनेपर फिर शुद्धताका भी भान न होगा। तब यह ही निर्णय करना चाहिए कि व्यवहारनयसे ये ६ पदार्थ यथार्थ हैं, किन्तु निश्चयनयसे शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। दृष्टि ले जाना चाहिये सर्व विशेष उपाधियोंकी कल्पनासे परे जो सहज एक शुद्ध स्वभाव है उसको ग्रहण करना चाहिये। उसका आश्रय करनेसे सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

नावश्यं वाच्यता सिद्धयेत्सर्वतो हेयवस्तुनि।

नान्धकारेऽप्रविष्टस्य प्रकाशानुभवो मनाक् ॥१७६॥

नव पदार्थोंके सर्वथा हेय हो जानेपर शुद्धतत्त्वकी बाध्यताका भी अभाव होनेका प्रसङ्ग—इन ६ पदार्थोंको तो हेय बताया गया है और शुद्ध आत्माको उपादेय बताया गया है। इसका निर्णय नय विभागसे कर लेना चाहिये। अशुद्धनयकी दृष्टिमें ही शुद्ध जीवत्व उपादेय है और ६ पदार्थ अनुपादेय हैं, किन्तु कोई यदि इन ६ पदार्थोंको सर्वथा ही छोड़ दे तो यह तो देखिये कि ६ पदार्थोंको सर्वथा छोड़ दिया जाय तो फिर इनके त्याग करनेका उपदेश भी कैसे किया जा सकता है? सर्वथा अग्राह्य हो गए तो यह भी तो न बोला जा सकेगा कि ये ६ पदार्थ हेय हैं। अरे उपयोगमें आ गए तब ही तो उनको हेय कह सकेंगे और इस ही के साथ यह भी जानना चाहिये कि ६ पदार्थ अग्राह्य अगर हैं सर्वथा, तो शुद्ध जीव तत्त्व उपादेय है यह भी न कहा जा सकेगा, क्योंकि जब उपयोगमें वह अशुद्ध है ही नहीं तो शुद्ध क्या चीज कहलायेगी? जैसे किसी पुरुषने अंधकार देखा ही नहीं तो वह प्रकाशका अनुभव ही क्या कर सकेगा कि यह प्रकाश है। अंधकारका जिनको परिचय हुआ वे ही तो समझेंगे कि यहाँ प्रकाश है। स्थिर भोगभूमियामें या स्वर्गादिकमें जहाँ अंधकारका नाम नहीं है, प्रकाश ही प्रकाश सर्वत्र बना रहता है वे लोग क्या जानेंगे कि यह प्रकाश है? जो है सो है। काम हो रहा है, व्यवहार चल रहा है। तो जिसने व.भी अंधकारमें प्रवेश नहीं किया वह प्रकाशका अनुभव क्या करेगा? ऐसे ही अशुद्ध ६ पदार्थ अग्राह्य हैं तो शुद्ध जीवतत्त्व उसके उपयोगमें कैसे आ सकेगा?

नावाच्यता पदार्थानां स्यादकिञ्चित्करत्त्वतः ।

सार्थानीति यतोऽवश्यं वक्तव्यानि नवार्थतः ॥१७७॥

नवपदार्थोंकी अकिञ्चित्करता व अवाच्यताकी अशुद्धता—यहाँ शंकाकार द्वारा पहिले १४६वें श्लोकमें कही हुई शंकाका विशेषरूप देकर दोहराया जा रहा है। ये ६ पदार्थ अकिञ्चित्कर होनेसे अवाच्य हैं ऐसी शंका न करना चाहिये। शंकाकारका आशय यह था कि शुद्धता और अशुद्धता दोनों यदि पदार्थमें हैं तो वे क्रमसे होंगी। किसी भी प्रकार हो, मगर उसमें उपादेय तो केवल शुद्ध मात्र है। अशुद्धता हेय है, इसी बातको और स्फुट रूप देकर यहाँ आशंका बतायी जा रही है कि वह अशुद्ध हेय है, तब सर्वथा हेय है, अकिञ्चित्कर है, इसलिए उसको तो कहना ही न चाहिये। उसके समाधानमें यहाँ कहते कि ६ पदार्थ अकिञ्चित्कर हैं इसलिए वे कहे ही न जाने चाहियें, यह बात संगत नहीं है, क्योंकि इन ६ पदार्थोंके कहनेका कुछ प्रयोजन है। यद्यपि जो निश्चित पुरुष है उस शुद्ध तत्त्वके अभ्यासमें निष्णात है और सीधा ही जिसको दृष्ट करते ही निरन्तर शुद्धता जिनके उपयोगमें रहती है, उनके लिए तो वह शुद्धता प्रयोजनवान् है और कहना चाहिए कि ऐसे परम भावमें स्थित पुरुषोंको अभूतार्थनयके विषयभूत ६ पदार्थोंके भेदके वर्णनसे कुछ प्रयोजन नहीं, सो उनको



अप्रयोजनवान है, किन्तु सर्वथा यह बात घटित न करनी चाहिए कि सबके लिए ही ऐसी बात उपयुक्त होगी। ये ६ पदार्थ कुछ प्रयोजन रखते हैं, इसके परिचयसे कोई सिद्धि होती है, इस कारण ६ पदार्थ अवश्य कहे जाने योग्य हैं।

न स्यात्तेभ्योऽतिरिक्तस्य सिद्धिः शुद्धस्य सर्वतः ।

साधनाभावतस्तस्य तद्यथानुपलब्धितः ॥१७८॥

**नव पदार्थोंके प्रतिपादनका प्रयोजन**—इस श्लोकमें यह कहा जा रहा है कि ६ पदार्थों के कहनेका प्रयोजन यह है कि यदि ६ पदार्थोंको न माना जाय तो ६ पदार्थोंसे परे शुद्ध जीव का भी कभी अनुभव नहीं हो सकता। ठीक ही है, अशुद्धता स्वीकार किए बिना शुद्ध जीव भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उस शुद्धताका साधन है अशुद्धता अर्थात् अशुद्धमें रह रहा है विशेष तो उसका कुछ होता ही है। विशेषको न माना जाय तो वह सामान्य शुद्ध जीवत्व भी नहीं ठहर सकता। इसे यों समझिये कि जैसे कोई पुरुष जीवको तो मानें, पर नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव और सिद्ध इन ५ को न माने, ये ५ असत्य हैं, हैं ही नहीं, ऐसा स्वीकार करने का आग्रह करें तो उनके लिए फिर जीव कहाँ बताया जायगा? जीव इन ५ से अलग कहाँ मालूम पड़ेगा? इस कारण ये ५ विशेष है। इन विशेषोंसे अलग रहकर जीव रह नहीं सकता। क्या कोई जीव ऐसा मिलेगा कि जो नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव या सिद्ध किसीमें भी न मिले? तो ५ से अतिरिक्त कोई जीव नहीं है, फिर भी ५ की दृष्टि न रखें और केवल उस एक शुद्ध जीवको जानें तो जाना तो जा सकता है। उपयोग द्वारा इन ५ का उल्लंघन करके शुद्ध जीवको जाना जा सकता है, लेकिन ये ५ हैं ही नहीं, ऐसा कोई आग्रह करे तो वहाँ गति नहीं हो सकती है। इसी प्रकार जीवके ये ६ पदार्थ विशेष बताये गए हैं। ये ६ पदार्थ हैं ही नहीं ऐसा कोई आग्रह करे तो फिर जीवको कहाँ बताया जायगा? तो प्रयोजन रखता है ६ पदार्थोंका कथन, इस कारण ६ पदार्थोंका प्रतिपादन करना संयत है। इन्हें अवाच्य न कहा जायगा। दूसरा कोई शुद्ध पर्यायमें जीवको निरखनेकी बात समझना चाहे तो ऐसी शुद्धता भी अशुद्धताके बिना नहीं हो सकती है। इसलिए भी अशुद्धका कथन प्रयोजनवान होता है।

ननु चार्थान्तरं तेभ्यः शुद्धं सम्यक्त्वगोचरम् ।

अस्ति जीवस्य स्वं रूपं नित्योद्योगं निरामयम् ॥१७९॥

न पश्यति जगद्वावन्मिथ्यान्धतमसा ततम् ।

अस्तमिथ्यान्धकारं चेत् पश्यतीदं जगज्जवात् ॥१८०॥

**जीवके अशुद्ध व शुद्ध दोनों रूपमें शुद्धकी अशुद्ध नव पदार्थोंसे अर्थान्तरताकी आरेका**—अब यहां शंकाकार पूर्वमें १४७वें श्लोकमें वधित शंकाको ही दोहराता हुआ उसका

कोई स्फुट रूप लेकर कह रहा है कि देखिये—शुद्ध और अशुद्ध दोनों एक साथ मान भी लें तो भी वह शुद्ध अशुद्धसे बिल्कुल निराला है। जैसे दो पदार्थ कहीं पड़े हैं तो सब अपनी-अपनी सत्ता रखते हैं। इसी भांति समझिये कि उस जीवके बारेमें अशुद्धत्व भी पड़ा है और शुद्धत्व भी पड़ा है। इतना भी कोई मान ले तब भी तो यह बात नहीं सिद्ध होती कि अशुद्धता ग्राह्य है। अरे अशुद्धका स्वरूप न्यारा है, शुद्धका स्वरूप न्यारा है और वहां उन ६ पदार्थोंसे भिन्न है वह शुद्ध जीव और वही सम्यक्त्वका विषयभूत होता है और वह है जीवका निजस्वरूप। नित्य उद्योतशील और निरोग निर्दोष ऐसा शुद्ध जीव है, वही सम्यक्त्वका विषयभूत है। उस शुद्ध जीवत्वको जब तक यह प्राणी देख नहीं सकता है, जब तक यह न देखता, न समझता तब तक वह मिथ्या अंधकारसे व्याप्त है, मोही है, मिथ्यादृष्टि है, और जब यह मिथ्या अंधकार दूर हो जाता है तब ही यह जीव उस शुद्ध जीवत्वको देखने लगता है। तो यहां यह समझना चाहिए कि शुद्ध जीवत्व अशुद्धसे भिन्न चीज है। अशुद्धमें रह रहा हो ऐसी बात नहीं है। वह भिन्न वस्तु है, भिन्न स्वरूप है। उस शुद्ध जीवत्वको जो ध्यानमें लाता है उसके सम्यक्त्व होता है, उसके जीवात्माका दर्शन होता है। अब इसके उत्तरमें कहते हैं—

नैवं विरुद्धधर्मत्वाच्चुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः।

नैकस्यैकपदे द्वे स्तः शुद्धाशुद्धे क्रियेथतः ॥१८१॥

एक पदार्थमें एक साथ शुद्ध व अशुद्ध दोनों क्रियाओंका अभाव होनेसे अशुद्ध होनेपर भी शुद्धकी अर्थान्तरताकी आरेकाका समाधान—उक्त शंका यद्यपि उसपर बिना विचार किये सुन्दर लग रही है कि अशुद्ध है, शुद्ध है, उसमें शुद्धका स्वरूप जुदा है और शुद्ध अशुद्धसे निराली बात है। उसका जो आलम्बन करेगा उसे सम्यक्त्व होगा। यह बात बहुत भली लग रही है, लेकिन विचार करनेपर यह शंका संगत नहीं बैठती। कारण यह है कि ऐसी शुद्धता और अशुद्धता ये दोनों परस्पर भिन्न वाले हैं, इसलिए एक स्थानमें दोनों नहीं रह सकते। इस उत्तरसे तो यह जाहिर होता है कि शंकाकारकी शंकाको बल मिल रहा है कि शुद्धता और अशुद्धता दोनों जब एक साथ नहीं रह सकते तो ठीक है। शुद्ध आदेय है, सम्यक्त्वका विषयभूत है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि शुद्धता और अशुद्धता भिन्न-भिन्न चीज हो गयीं। जीव वही एक है। जब वह अशुद्ध है, अशुद्ध पर्यायमें चल रहा है तब वहां अशुद्धता नहीं है और जब वह शुद्ध पर्यायमें चलता है तब वहां अशुद्धता नहीं है। इस तरह जीवमें ये ६ पदार्थ तो रहे। जब जो पदार्थ रहे तब उस ही में उपयोग द्वारा इन विकारोंके बिना निरखनेपर शुद्ध जीवत्वका परिचय किया जाता है। शुद्धता और अशुद्धता ये दोनों समताके साथ एक साथ रहते हों सो बात नहीं। एक पदार्थमें शुद्ध और अशुद्ध दो क्रियायें नहीं हो सकतीं। इससे यह बात समझना चाहिए कि पदार्थ वह जीव ६ पदार्थके रूपमें है इसलिए

अशुद्ध है और ऐसे अशुद्ध पदार्थमें ही रहते हुए जीवके जब उन विशेषोंकी दृष्टि नहीं करते हैं तब वहां शुद्ध जीवत्वका बोध होता है। इस कारण यह न मान लेना कि दोनों ही रहते हैं एक साथ और समानताके ढंगसे शुद्ध जीवत्व भी है निराला और अशुद्धता भी निराली है। बात एक है, देखनेके ढंग दो हैं। पदार्थ तो जो है सो ही है और जिस अंशरूप है उसीमें है लेकिन देखनेकी पद्धतियां दो हैं। पर्यायप्रधानदृष्टिसे देखेंगे तो ६ पदार्थ विदित होते हैं और शुद्ध द्रव्यार्थिकदृष्टिसे देखेंगे तो वहां शुद्ध जीवत्वका बोध होता है, इसी बातको अगली दो गाथाओंमें स्पष्ट करते हैं।

अथ सत्यां हि शुद्धायां क्रियायामर्थतश्चितः ।

स्यादशुद्धा कथं वा चेदस्ति नित्या कथं न सा ॥१८२॥

एकान्तिक शुद्धताके आग्रहमें दोषप्रसङ्ग—यदि जीवको केवल शुद्ध ही माना जाय तब फिर यह बतलाओ कि अशुद्ध क्रिया हो कैसे सकेगी ? जब जीवको शुद्ध मान लिया तो शुद्ध ही है। अब उस शुद्ध जीवमें अशुद्धता कैसे बनेगी ? अर्थात् जो पर्यायसे शुद्ध है, निर्विकार है ऐसे जीवमें विकार आनेका कारण क्या होगा ? और यदि विकार हो सकते हैं, अशुद्धता आ सकती है बिना कारणके, क्योंकि अशुद्धताका कारण तो पूर्व अशुद्धता है। अनादि परम्परासे जीव अशुद्ध है और वही अशुद्धताका कारण है। अशुद्धता उस ही से बनती है। जब जीवको मान लिया शुद्ध तो अशुद्ध बननेका कारण तो कुछ रहा नहीं, और अशुद्ध बनने का कारण न होनेपर भी उसे मान लिया जाय अशुद्ध तो यह अशुद्धता फिर नित्य हो जायगी, क्योंकि जो अहेतुक भाव है वह नित्य रहा करता है। अब अहेतुक बन गया तो अशुद्धता भी सदाकाल रहनी चाहिए और ऐसा माननेपर तो कोई कल्याण नहीं है, न मुक्तिका प्रसंग होगा। जीव सदा अशुद्ध रहेगा। सो जैसे अन्य दार्शनिकोंने माना है कि जीवका वैकुण्ठ यही है कि ये कषायें अत्यन्त हल्की हो जायें। फिर एक महेश्वर है, वह समस्त जगतका अधिकारी है, जब उसकी मर्जी होती है तो वह वैकुण्ठसे उस जीवको ढकेल देता है। उस जीवको फिर जन्म लेना पड़ता है। यों यह जीव धवके खाता रहेगा, कल्याण मार्ग, धर्ममार्गमें यह जीव ठहर नहीं सकता। तो शुद्धताके आग्रहमें इस प्रकारका दोषप्रसंग आता है।

अथ सत्यामशुद्धायां बन्धाभावो विरुद्धभाक् ।

नित्यायामथ तस्यां हि सत्यां मुबतेरसंभवः ॥१८३॥

एकान्तिक अशुद्धताके एकान्तमें दोषप्रसङ्ग—अब अशुद्धताके आग्रहमें क्या दोष आता है, उसका वर्णन इस श्लोकमें किया जा रहा है। यदि जीवमें अशुद्धता ही मानी जाय तब फिर बन्धका अभाव कभी हो ही न सकेगा, अर्थात् वह अशुद्धता निकले और वहाँ शुद्धता

आये, यह कभी सम्भव ही न हो सकेगा, क्योंकि जीवमें अशुद्धता मान ली गई अर्थात् जीवका प्राण, जीवका स्वरूप जब अशुद्धता ही है तो वह तो नित्य कहलायेगी, और ऐसी अशुद्धताके नित्य हो जानेपर फिर उस जीवात्माकी मुक्ति किस प्रकार हो सकती है ? फिर कभी मोक्ष का अवसर ही नहीं आ सकता । तो इस तरह जैसे पहिली शंकामें बताया था कि जीवकी शुद्धताका आग्रह करनेपर फिर मुक्ति सम्भव नहीं, क्योंकि वह शुद्धता रही आयी तो अशुद्धता न होगी और अशुद्धता अगर हो जायगी तो वह नित्य बन जायगी । तो वहां भी मुक्ति असम्भव थी, और जीवको अशुद्ध ही मान लिया जाय तो यहां भी मुक्ति असम्भव है, क्योंकि अशुद्ध स्वरूप हो गया । कभी बन्धका अभाव हो ही न सकेगा । तो इस स्थितिमें भी जीवकी मुक्ति नहीं हो सकती है ।

ततः सिद्धं यदा येन भावेनात्मा समन्वितः ।

तदाऽनन्यगतिस्तेन भावेनात्माऽस्ति तन्मयः ॥१८४॥

जब जिस भावसे परिणत हो तब उस भावमय होनेका निर्णय—ऊपर जो ३ श्लोकों में शंकाकारकी शंकाका समाधान दिया है उस विवेचनसे यह बात सिद्ध होती है कि आत्मा जिस समय जिस भावसे परिणत होता है उस समय वह आत्मा उस ही भावमय है । उसी भावरूप प्रतीत होता है । उस समय उससे अतिरिक्त कोई उसकी गति नहीं बतायी जा सकती है । शुद्धता और अशुद्धता दोनोंका यहाँ वर्णन बताया गया था कि जीवमें शुद्धता और अशुद्धता एक साथ नहीं होतीं । जब शुद्ध पर्यायमें है तब शुद्ध है, जब अशुद्ध पर्यायमें है तब अशुद्ध है, और जब अशुद्ध भावसे परिणत है तब वह जीव अशुद्ध है और शुद्ध भावसे जब परिणत है तब वह जीव शुद्ध है । तो इस कारण ये विशेष सामान्यसे सर्वथा निराले न कहलाये कि विशेष तो बिल्कुल जुदा हो और सामान्य बिल्कुल जुदा हो, और यों उनमेंसे शुद्ध को ही ग्रहण करना और अशुद्ध को तजना, ऐसी भिन्न-भिन्न बातें दो नहीं हैं, किन्तु वह जीव पदार्थ एक है और जिस भावसे जब परिणमता है तब वह उस भावमें अनन्य हो जाता है ।

तस्माच्छुभः शुभे नैव स्यादशुभोऽशुभेन यः ।

शुद्धः शुद्धेन भावेन तदात्वे तन्मयत्वतः ॥१८५॥

शुभ, अशुभ व शुद्धभावसे परिणत होनेके समय जीवकी शुभ, अशुभ व शुद्धमयता—उक्त श्लोकमें जो निर्णय दिया गया है उस ही निर्णयका स्पष्टीकरण किया जा रहा है कि जिस समय आत्मा शुभभावसे परिणमता है तब वह आत्मा शुभ कहलाता है । जैसे शुभभाव है भक्ति, पूजन, दया, दान, मंदकषाय, तो जब इन शुभ परिणामोंसे जीव परिणमता है तो यह ही जीव शुभ कहलाता है और जिस समय यह जीव अशुभभावसे परिणमता है तब यह जीव अशुभ कहलाता है । अशुभ भाव है कषाय करना, विषयोंकी अभिलाषा रखना, मोह

बढ़ाना, रागद्वेष करना, पर्यायबुद्धि रखना आदि । इन सब अशुभ भावोंसे जब यह जीव परिणमता है तो यह जीव अशुभ कहलाता है, और जब शुभ, अशुभ दोनों भावोंसे रहित होकर केवल शुद्ध भावसे परिणमता है, रागद्वेष रहित केवल ज्ञातादृष्टा रहना, ज्ञानका ऐसा विशुद्ध परिणमन जब चलता है तब यह जीव शुद्ध कहलाता है । अर्थ यह निकला कि जिस समय जो जीव जिस भावसे परिणम रहा है उस समय वह उन ही भावोंमें तन्मय है अर्थात् वे विशेष उस सामान्यसे निराले अलग कहीं बसते हों, ऐसी बात नहीं है ।

ततोऽनर्थान्तरं तेभ्यः किञ्चिच्छुद्धमनीदृशम् ।

शुद्धं नव पदान्येव तद्विकाराहते परम् ॥१८६॥

नव पदार्थोंसे शुद्ध जीवकी कथञ्चित् अभिन्नता तथा विकारके अदर्शनमें नव पदार्थोंकी ही शुद्धरूपता—इस कथनका सारांश यह हुआ कि स्वरूप तो अशुद्धका दूसरा कहा जायगा, शुद्धका दूसरा कहा जायगा । इस कारण यह बात भी समझमें आयागी कि वह शुद्ध जीवत्व अशुद्धसे विलक्षण है अर्थात् वह पारिणामिक भावस्वरूप वह शुद्ध चिदात्मक स्वभाव इन ९ पदार्थोंसे विलक्षण है, लेकिन फिर भी उन ९ पदार्थोंसे कथञ्चित् अभिन्न है । उन ९ अवस्थाओंको छोड़कर जीव और किस हालतमें मिलेगा ? संसारी रहे, मुक्त रहे, इन दो को छोड़कर तीसरी और कौनसी गति होगी ? तो ९ पदार्थोंसे कथञ्चित् यह जीव यों अभिन्न होता है, ऐसी स्थितिमें जीवको सर्वथा भिन्न कहना मिथ्या है । अथवा वहाँ यह भी देखिये कि हैं वे ९ पदार्थ और वे पदार्थ कोई तो विकारके सम्बंधसे हैं, कोई उपाधिके सम्बंधसे हैं, कोई उपाधिके सम्बंधका ख्याल रख रहा है कि था पहिले, इस प्रकारके ख्यालकी वजहसे है । किसी भी प्रकार हो, कोई न कोई उपराग लगा है तब ये ९ पदार्थ कहलाते हैं । इसी कारण ये अशुद्ध कहलाते हैं । अब इन अशुद्ध पदार्थोंमें विकारोंको उपयोगसे हटा लीजिए, उपयोगमें विकारोंको न ले जाइये । जैसे कि यहां कहा जा सकता है कि द्रव्य पर्यायात्मक पदार्थमें हम पर्यायको गौण कर दें और द्रव्यको मुख्यतासे देखें अथवा उस द्रव्यस्वरूपको गौण कर दें और पर्यायको मुख्यतासे देखें । ऐसा यहां भी किया जा सकता कि इन ९ पदार्थोंको हम गौण कर दें और एक शुद्ध जीवत्वको देखें, यह भी हो सकता है कि उस शुद्ध जीवत्वको गौण कर दें और इन ९ पदार्थोंको देखे तो यहां जब उन ९ पदार्थोंसे न देखा जाय तो उन विकारोंके बिना ये ९ पदार्थ शुद्ध स्वरूप बन जाते हैं, अर्थात् इन ही ९ पदार्थोंको जब भूतार्थ पद्धतिसे देखते हैं तो उपयोगमें यह विशेषता नहीं रह पाती और उस शुद्ध जीवत्वका दर्शन होता है ।

अतस्तत्त्वार्थश्रद्धानं सूत्रे सदृशं मतम् ।

तत्तत्त्वं नव जीवाद्या यथोद्देश्याः क्रमादपि ॥१८७॥

प्रकृत प्रतिपादनकी “तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्” से समन्वय—इस कारणसे अर्थात् जब शुद्धता और अशुद्धता ये भूतार्थ और अभूतार्थ पद्धतिसे जाने गए हैं तो तत्त्वार्थ सूत्रमें जो सम्यक्त्वका यह लक्षण कहा है कि तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। सो यह युक्त बैठता है। तत्त्व हैं वे ६ जीवादिक, उनका जब वस्तुस्वरूपसे युक्त श्रद्धान किया जाता है तो सम्यग्दर्शन है। तत्त्वसे अर्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अध्यात्मविधिमें इसका अर्थ यों लगा लीजिए कि भूतार्थ पद्धतिसे इन पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। तो इन ६ पदार्थोंके श्रद्धानकी बात सम्यक्त्वमें जो आवश्यक बतायी गयी है वह युक्त है, और अब उन्हीं जीवादिक ६ पदार्थोंका निर्देश क्रमसे बताते हैं और उसमें उस पद्धतिका भी दिग्दर्शन कराते हैं। जिस पद्धतिसे ६ पदार्थोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन होता है।

तदुद्देश्यो यथा जीवः स्यादजीवस्तथास्रवः ।

बन्धः स्यात्संवरश्चापि निर्जरा मोक्ष इत्यपि ॥१८८॥

सप्तैते पुण्यपापाभ्यां पदार्थास्ते नव स्मृताः ।

सन्ति सदृशनस्योच्चैर्बिषया भूतार्थमाश्रिता ॥१८९॥

**भूतार्थाश्रित नव पदार्थोंकी सम्यक्त्वगोचरता**—वे ६ पदार्थ ये हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप। ऐसे इन ६ पदार्थोंका जब भूतार्थपद्धति से श्रद्धान किया जाता है तो यह ही सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्ट विधि हो जाती है। भूतार्थपद्धति का संक्षिप्त रूप यह है कि मानो जीवमें सम्वर तत्त्व निरखा जा रहा है। तो सम्वर तत्त्वका अर्थ है वह शुद्धोपयोगरूप पर्याय, जिसके बलपर कर्मोंका आस्रव रुक गया है, विकार सब रुक गए हैं, वह तो जो शुद्धोपयोग रूप पर्याय है, सम्वरभाव है वह सम्वर भाव तो विशेष है और वह विशेष किसका है? वह परिणामन कहाँसे उदित हुआ है? उसका आधार क्या है? इसका उत्तर देते हुए जो एक शुद्ध जीवत्व दृष्टिमें आया पदार्थमात्र तो उस पर्यायको उस पदार्थके अभिमुख करके जो समझनेकी विधि है यह है भूतार्थपद्धति। इस विधिमें विशेष उपयोगसे हट जाता है और एक वह सामान्य उपयोगमें रह जाता है, और इस विधिसे यहाँ सम्यक्त्व प्रकट होता है। तो इस तरह यहाँ ६ ही पदार्थ जब भूतार्थका आश्रय करके जाने जाते हैं तो सम्यक्त्वके विषयभूत बनते हैं। यह तो एक शुद्ध पर्यायके उदाहरणसे भूतार्थ पद्धतिकी बात कही, अब अशुद्ध पर्यायोंमें भी भूतार्थपद्धति देखिये—आस्रव बन्ध हैं, रागादिक विकार हो रहे हैं, पर वहाँ भी यह निर्णय पड़ा है कि ये रागादिक विकार किस भूमिकामें हैं, किस द्रव्यमें हैं, किसका परिणामन है, कहाँसे प्रकट है? यह निमित्तसे तो नहीं प्रकट है, यह बाह्य पदार्थसे तो नहीं निकला है। जो इसका स्रोत है उस एक पदार्थको देखो और उस

पर्यायको उस पदार्थके अभिमुख किया तो वह मुख्य बन जायगा वह पदार्थ वह उपादान और यह विशेष बन जाता है गौरा, और ऐसी स्थितिमें विशेषत्वका उपयोग दूर हो जाता है और वह सामान्य पदार्थ उपयोगमें रहता है और ऐसी पद्धतिसे शुद्ध जीवत्व जब भानमें आया तो वह सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण हो जाता है ।

॥ पञ्चाध्यायी प्रवचन नवम भाग समाप्त ॥